विवेक ज्योति
हिन्दी त्रैमासिक
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (म.प्र.)
वर्ष : २२
अंक : ३
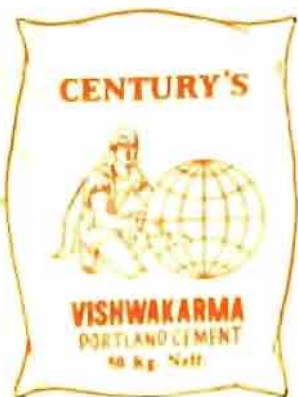
विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई – अगस्त – सितम्बर

★ १९८४ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

सह-व्यवस्थापक

स्वामी ज्ञानातीतानन्द

वार्षिक ८)

एक प्रति २।।)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर–४९२००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

कवर चित्र परिचय : **स्वामी विवेकानन्द**

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर
प्राप्त कराये गये कागज पर मुद्रित

मुद्रण स्थल : नई दुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर-४५२००९

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २२] जुलाई–अगस्त–सितम्बर ★ १९८४ ★ [अंक ३

आत्मा का साक्षीभाव कैसा ?

रवेर्यथा कर्मणि साक्षिभावो
वह्नेर्यथा वायसि दाहकत्वम् ।
रज्जोर्यथारोपितवस्तुसंग-
स्तथैव कूटस्थचिदात्मनो मे ।।

—मनुष्यों के कर्मों में जैसे सूर्य का साक्षीभाव है, लोहे में जैसे अग्नि की दाहकता है और आरोपित सर्प आदि से जैसे रज्जु का सम्बन्ध है, वैसे ही मुझ कूटस्थ चेतन आत्मा का विषयों में साक्षीभाव है ।

—विवेकचूड़ामणि, ५०७

अग्नि-मंत्र

(स्वामी अखण्डानन्द को लिखित)

अल्मोड़ा,
१५ जून, १८९७

कल्याणवरेषु,

तुम्हारे समाचार मुझे विस्तारपूर्वक मिलते जा रहे हैं, और मेरा आनन्द अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। इसी प्रकार के कार्य द्वारा जगत् पर विजय प्राप्त की जा सकती है। सम्प्रदाय और मत का अन्तर क्या अर्थ रखते हैं? शाबाश! मेरे लाखों आलिंगन और आशीर्वाद स्वीकार करो। कर्म, कर्म, कर्म––मुझे और किसी चीज़ की परवाह नहीं है। मृत्युपर्यन्त कर्म, कर्म, कर्म! जो दुर्बल हैं, उन्हें अपने आप को महान् कार्यकर्ता बनाना है, महान् नेता बनाना है––धन की चिन्ता न करो, वह आसमान से बरसेगा। जिनका दान तुम स्वीकार करते हो, उन्हें अपने नाम से देने दो, इसमें कुछ हानि नहीं। किसका नाम और किसका महत्त्व क्या है? नाम के लिए कौन परवाह करता है? उसे अलग रख दो! यदि भूखों को भोजन का ग्रास देने में नाम, सम्पत्ति और सब कुछ नष्ट हो जायं, तब भी 'अहो भाग्यमहो भाग्यम्'––तब भी बड़ा भाग्य है! अत्यन्त भाग्यशाली हो तुम। हृदय और केवल हृदय ही विजय प्राप्त कर सकता है, मस्तिष्क नहीं। पुस्तकें और विद्या, योग, ध्यान और ज्ञान––प्रेम की तुलना में ये सब धूलि के समान हैं। प्रेम से अलौकिक शक्ति मिलती है, प्रेम से भक्ति उत्पन्न होती है, प्रेम ही ज्ञान देता है, और प्रेम ही मुक्ति की ओर ले जाता है। वस्तुतः यही उपासना है––मानव-शरीर में स्थित ईश्वर की उपासना! 'नेदं यदिदमुपासते'––

'वह (अर्थात् ईश्वर से भिन्न वस्तु) नहीं, जिसकी लोग उपासना करते हैं।' यह तो अभी आरम्भ ही है और जब तक हम इसी प्रकार पूरे भारत में, नहीं, नहीं, सम्पूर्ण पृथ्वी पर न फैल जायँ, तब तक हमारे प्रभु का माहात्म्य ही क्या है!

लोगों को देखने दो कि हमारे प्रभु के चरणों के स्पर्श से मनुष्य को देवत्व प्राप्त होता है या नहीं! जीवन्मुक्ति इसी का नाम है, जब अहंकार और स्वार्थ का चिह्न भी नहीं रहता।

शाबाश! श्री प्रभु की जय हो! क्रमशः भिन्न भिन्न स्थानों में जाओ। यदि हो सके तो कलकत्ते जाओ, लड़कों की एक अन्य टोली की सहायता से धन एकत्र करो; उनमें से दो-एक को एक स्थान में लगाओ, और फिर किसी और स्थान से कार्य आरम्भ करो। इस प्रकार धीरे धीरे फैलते जाओ और उनका निरीक्षण करते रहो। कुछ समय के बाद तुम देखोगे कि काम स्थायी हो जायगा और धर्म तथा शिक्षा का प्रसार इसके साथ स्वयं हो जायगा। मैंने कलकत्ते में उन लोगों को विशेष रूप से समझा दिया है। ऐसा ही काम करते रहो तो मैं तुम्हें सिर-आंखों पर चढ़ाने के लिए तैयार हूँ। शाबाश! तुम देखोगे कि धीरे धीरे हर ज़िला केन्द्र बन जायगा—और वह भी स्थायी केन्द्र। मैं शीघ्र ही नीचे (plains) जाने-वाला हूँ। मैं योद्धा हूँ और रणक्षेत्र में ही मरूँगा। क्या मुझे यहाँ पर्दानशीन औरत की तरह बैठना शोभा देता है?

सप्रेम तुम्हारा,
विवेकानन्द

०

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

छठा प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन के एक उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्री श्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' प्रथम भाग के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की अत्यन्त उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं।--स०)

ठाकुर का सहज और गम्भीर भाव

पाँच मार्च सन् १८८२ ई.। ठाकुर दक्षिणेश्वर के अपने कमरे में भक्तों के साथ भगवच्चर्चा कर रहे हैं। मास्टर महाशय ठाकुर का दर्शन करने यह चौथी बार आये हैं। अतः ठाकुर से उनका कुछ परिचय हो चुका है, लेकिन फिर भी अभी ठाकुर के विभिन्न भावों से उनका सम्यक् परिचय नहीं हुआ है। उन्होंने ठाकुर को समाधिस्थ अवस्था में देखा है, भक्तों के साथ ईश्वर-चर्चा करते हुए देखा है, गम्भीर तत्त्व की बातों को सहज ढंग से व्याख्या करते हुए देखा है--यह एक प्रकार का दृश्य था। फिर मास्टर महाशय ही ठाकुर को लड़कों के साथ ठिठोली करते हुए देख रहे हैं, मानो वे लड़के उनके हमजोली हों। यह सर्वथा विपरीत दृश्य है। इसीलिए मास्टर महाशय सोच रहे हैं कि पिछली बार जिन रामकृष्ण के साथ उनका

परिचय हुआ था, ये मानो वह रामकृष्ण नहीं हैं। तभी तो उनके मन में प्रश्न उठा था––"क्या ये वही हैं?" हममें से बहुतों की ऐसी धारणा होती है कि जो धर्म की बातें बोलते हैं, वे सर्वदा गम्भीर चिन्तन में निमग्न रहेंगे और उनमें ऐसा एक गाम्भीर्य होगा, जिसको भेदकर साधारण मनुष्य का उनके पास पहुँचना कठिन होगा।

सर्वत्र, सब देशों में, साधकों के सम्बन्ध में साधारण मनुष्य की ऐसी ही धारणा रहती है। जहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ मन में यही आता है––"यह कैसी बात है?" पाश्चात्य देशों में स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) को एक साधारण मनुष्य की तरह हास-परिहास करते देख किसी भक्त ने अवाक् हो उनसे इस सम्बन्ध में पूछा था। उत्तर में स्वामीजी ने कहा था–– "We are the children of Bliss. Why should we be morose and gloomy?"––हम आनन्द की सन्तान हैं, हम विमर्ष में क्यों रहें? स्वामीजी यह बात इसलिए कह सके थे कि वे ठाकुर की कृति विवेकानन्द थे।

ठाकुर जिस समय साधारण भूमि में रहते, उस समय भी वे सदानन्दी पुरुष थे। आनन्द मानो उनके चारों ओर प्रवाहित होता और वे साधारण भूमि में उतरकर सामान्य-सी बात को लेकर भी वैसा आनन्द मनाया करते। जैसा मास्टर महाशय ने यहाँ उन्हें छोकरों के साथ ठिठोली करके आनन्द मनाते हुए देखा, ठीक इसी प्रकार का एक दृष्टान्त हम स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज के जीवन में पाते हैं। वे तब बलराम-मन्दिर में थे। वहाँ उनके दर्शन करने के लिए एक भक्त आया था। अपने साथ एक मित्र को भी यह कहकर लेता आया था कि वह उसे एक

महापुरुष का दर्शन कराएगा । उसने वहाँ पहुँचकर देखा कि महाराज तो छोकरों के साथ हँसी-मसखरी कर रहे हैं । भक्त विचार करने लगा कि महाराज तो तनिक भी धर्म-प्रसंग नहीं कर रहे हैं, जाने उसका मित्र क्या सोचे ! कुछ समय पश्चात् जब वे लोग विदा लेने लगे, तो महाराज हँसते हँसते उनसे बोले, "अजी, हम लोगों में अच्छी बातें भी होती हैं ।" राह में चलते हुए भक्त सोचने लगा कि लगता है कि मित्र को बड़ी निराशा हुई है । लेकिन मित्र ने कहा, "भाई, अब यह तो नहीं जानते कि आध्यात्मिक जीवन में महापुरुषों को कैसा बोध होता है, लेकिन आज एक नयी बात देखी, एक आनन्दमय पुरुष को देखा ।" महाराज ने बिना कोई उपदेश दिये ही उस नवागत मित्र के मन को किस प्रकार जीत लिया, यह तो वे ही जानें ।

हम लोग जो यह समझते हैं कि महापुरुष किसी एक निर्धारित मार्ग से चलेंगे, तो वैसी बात नहीं है । उनकी पद्धति अलग है । ठाकुर के जीवन में भी वैसा क्रम देख भला कौन कहेगा कि वे इतना धर्म-प्रसंग करते हैं । कभी-कभी तो ठाकुर लड़कों से हँसी-मजाक करते समय तथा-कथित शिष्टता का ध्यान न रख पाते । वे हँसते हुए कहते, "बीच में थोड़ी छौंक देनी पड़ती है !" अब यह तो वे ही जानें कि क्या दे सकते हैं, क्या देना उचित है, कितना देना उचित है । यह सब वे ही समझें —वैद्य जो हैं ! साधारण मनुष्य के लिए उसकी धारणा करना कठिन है । तभी तो मास्टर महाशय भी उन्हें इस अवस्था में देख आश्चर्यचकित हो रहे हैं ।

रामकृष्ण और चिह्नित भक्तगण

ठाकुर मास्टर महाशय को देखकर कहते हैं, "लो !

फिर से आ गया ।" वे अपने अन्तरंग भक्तों को पहचानते थे । मास्टर के सन्दर्भ में भी इसका अपवाद नहीं हुआ । पर बात यह थी कि ठाकुर तरह तरह से उन लोगों की जँचाई करते थे । वे मास्टर महाशय से पूछते हैं, "अच्छा, मेरे सम्बन्ध में तुम्हारी क्या धारणा है ? मैं तुम्हें कैसा लगता हूँ ?" यह प्रश्न वे अपने सभी अन्तरंगों से पूछकर यह जान लेते कि वे लोग उनकी कितनी धारणा कर पाये हैं । फिर किसी किसी को देख ठाकुर एकदम उछल पड़ते । इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं अपने मुँह से कहा है, "यह कैसा है जानते हो ? जैसे बहुत दिनों के बाद अचानक अप्रत्याशित रूप से कोई निकट का स्वजन सामने आ जाने पर आदमी अवाक् हो जाता है,. . .ठीक वैसे ही जब देखता हूँ कि कोई अन्तरंग पार्षद आ रहा है, जिसे पहले कभी देखा नहीं, जिसके साथ यह पहली मुलाकात होगी, न वह मुझे जानता, न मैं मानो उसके सम्बन्ध में कुछ जानता, तब अचानक उसे देख अवाक् हो उस प्रकार उछल पड़ता हूँ ।" यह बात उन्होंने स्वयं कही इसलिए लोग जान पाये, अन्यथा जानने का कोई उपाय नहीं था । नवागत भक्तों के साथ उनका जो सम्बन्ध था, उसे वे हमेशा प्रकट नहीं करते थे । कभी कभी वार्तालाप के प्रसंग में बोल उठते । जैसे मास्टर महाशय के साथ उनका जो सम्बन्ध था, उसका उल्लेख उन्होंने इन कुछ मुलाकातों में भी नहीं किया । उन्होंने अब तक मास्टर महाशय को यह नहीं बताया था कि वे उनके पार्षद हैं, अर्थात् उनके कार्य में सहकारी होने के लिए आये हैं ।

निस्सन्देह स्वामीजी (विवेकानन्दजी) के सम्बन्ध

में बात दूसरी थी । स्वामीजी के लिए वे कितने दिनों तक प्रतीक्षा करते रहे थे । इसीलिए उनसे मिलते ही वे मानो अपने आपको और अधिक ढककर नहीं रख सके थे । उनके साथ अपने सम्बन्ध का खुलासा करके ही उन्हें ग्रहण किया था । लेकिन स्वामीजी कुछ भी समझ नहीं सके थे । यह जो अन्तरंगों के साथ उनका सम्बन्ध है, उसकी जानकारी उन्हें तो है, लेकिन जिनसे सम्बन्ध है, उनके लिए भी तो यह जानना आवश्यक है । जैसा कि भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं---

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।।

---"हे अर्जुन, तुम्हारे और मेरे कई जन्म अतीत में हो चुके हैं"---तुम्हारा और मेरा इन शब्दों को आजू-बाजू रखते हुए कहते हैं कि "तुम मुझसे जुड़कर, मेरे सहकारी रूप में बहुत बार आये हो ।" "तानि अहं वेद सर्वाणि" ---वह सब मैं जानता हूँ, किन्तु तुम नहीं जानते । ठीक इसी प्रकार अपने पार्षदों को भी ठाकुर ने पहचान लिया था, जान लिया था कि अन्य लोगों की तरह कर्म के द्वारा प्रेरित होकर वे नहीं आये हैं, बल्कि वे उनके इस विश्व-कल्याण के कार्य में सहायक होने के लिए आये हैं, भगवान् के लीलासहचर के रूप में आये हैं । ठाकुर ने कहा है, "तुम लोगों को केवल इतना जानने की आवश्यकता है कि तुम कौन हो, मैं कौन हूँ और मेरे साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है"---बस, इतना होने से ही हो गया ! यही दिव्य जन्म और कर्म है । इतना जान लेने से ही उन लोगों को हो जायगा । उन्हें और कुछ जानना नहीं पड़ेगा । यदि वे कुछ साधना करा लेते हैं, तो केवल

इस ज्ञान के उन्मेष के लिए ही कि उनके सामने जो हैं, वे स्वयं परमेश्वर हैं, जीव के कल्याण के लिए देह-धारण करके आये हैं, और ईश्वर के उसी कार्य के सहकारी-रूप में वे लोग आये हैं ।

इसके पश्चात् हम देखते हैं कि दृश्य बदल रहा है । इतना जो हँसी-मजाक हो रहा था, वह शान्त हो गया । हनुमान् की बात उठी, राम के दास हनुमान की । ठाकुर बोले, "देखो, हनुमान् का कैसा भाव है ! धन, मान, देह-सुख कुछ भी नहीं चाहते, केवल भगवान् को चाहते हैं । स्फटिक स्तम्भ से ब्रह्मास्त्र लेकर हनुमान् जा रहे हैं । अस्त्र को वापस पाने के लिए मन्दोदरी कितना प्रलोभन दिखाती है । लेकिन कोई भी प्रलोभन उन्हें लक्ष्य से च्युत नहीं कर सका । राम का कार्य करने के लिए उनका आना हुआ है; राम को छोड़ वे और कुछ नहीं जानते ।" यही गीत गाते गाते फिर समाधि हो गयी । वे निश्चल, निस्पन्द हो गये । मास्टर महाशय ने जैसा पहले देखा था, ठीक वैसा ही देख रहे हैं । तब उनके मन में विचार उठता है--"क्या ये ही महापुरुष छोकरों के साथ ठिठोली कर रहे थे !"

श्री 'म' का यंत्ररूप में गठन

मास्टर महाशय दो सर्वथा विपरीत दृश्य, दो विपरीत स्वभाव देख आश्चर्यचकित हो रहे हैं । इसके पश्चात् ठाकुर ने मास्टर महाशय और स्वामीजी को अँगरेजी में कुछ तर्क करने के लिए कहा । लेकिन मास्टर महाशय कहते हैं, "ठाकुर की कृपा से मेरा तर्क का घर एक प्रकार से बन्द हो गया है ।" ठाकुर ने एक बार मास्टर महाशय से कहा था, "बोलो, अब और विचार नहीं करूँगा ।" इस प्रकार तीन बार कहने को लगाया था, क्योंकि यह मार्ग

मास्टर महाशय के लिए नहीं था। उन पर तो यही दायित्व था कि वे ठाकुर का भाव जिस प्रकार देख रहे हैं, उसमें बिना किसी प्रकार editing (संशोधन) किये ठीक उसी प्रकार लोगों के समक्ष रखेंगे। उसमें थोड़ा भी हेर-फेर चलेगा नहीं। उन्होंने मास्टर की परीक्षा ली थी। पूछा था, "अच्छा, बताओ तो मैंने क्या कहा था ?" और मास्टर महाशय ने बतला दिया था। इस पर ठाकुर ने कहा था, "नहीं, ठीक नहीं हुआ। वैसा नहीं, ऐसा कहा था।" इस प्रकार से वे संशोधन कर देते थे, जिससे उनके उपदेश सही रूप से लोगों के सामने रखे जा सकें। तभी तो ठाकुर ने मास्टर महाशय को तीन बार शपथ दिलायी। यही कारण है कि मास्टर महाशय के तर्क का घर बन्द है। एक बार ठाकुर ने एक बालक-भक्त सुबोध को मास्टर महाशय के पास जाने के लिए कहा। सुबोध ने सोचा कि मास्टर तो गृहस्थ हैं, उनसे भला क्या धर्मोपदेश लेने जाऊँ ? लगता है कि सुबोध को इस बात का कुछ अभिमान था कि वे त्यागी जीवन बितानेवाले हैं। इसलिए ठाकुर ने जब पुनः उनसे पूछा, तो वे कह उठे, "वे तो गृहस्थ हैं, उनके पास भला धर्मोपदेश सुनने क्या जाऊँ ?" इस पर ठाकुर हँसते हुए बोले, "नहीं रे, तू जाना।" ठाकुर की बात रखने के लिए वे मास्टर महाशय के पास गये। मास्टर महाशय ने जाना कि नितान्त अनिच्छा से ही सुबोध उनके पास आया है। वे सुबोध से बोले, "मैं अपने पास एक बड़े कलसे में गंगाजल भरकर रखता हूँ। जब कोई आता है, तब उसी में से लेकर थोड़ा थोड़ा बाँटता हूँ।" तात्पर्य यह कि इन उपदेशों में उनका अपना कुछ भी नहीं है। ठाकुर की बातों को बड़े कलसे में गंगाजल रखने की भाँति उन्होंने

मन में भरकर रख लिया था। इससे समझ में आता है कि ठाकुर ने मास्टर महाशय को विचार करने से इतना मना क्यों किया था, क्यों उनसे कहा था कि विचार का घर तुम्हारे लिए नहीं है।

ठाकुर का गाना सुनकर मास्टर महाशय मुग्ध हो गये हैं। जिन्होंने भी उनका गाना सुना है, वे कहते हैं कि एक बार उनका गाना सुन लेने के बाद किसी दूसरे का स्वर अच्छा नहीं लगता। तभी तो ठाकुर के गाने पर मुग्ध मास्टर महाशय पता लगा रहे हैं कि फिर से गाना होगा या नहीं। ठाकुर उन्हें बलरामबाबू के घर जाने के लिए कहते हैं, वहाँ गाना होगा। मास्टर का अपनी भक्त-मण्डली से परिचय करा देने का यह मानो एक उपक्रम था। इसमें हम ठाकुर के प्रचार-कार्य का कुछ परिचय पाते हैं। वे जिस समय जहाँ गये, उन लोगों को ठीक सूचना भिजवा दी, जिन लोगों के लिए वे वहाँ गये। वे जो विशिष्ट भावधारा जगत् को दिये जा रहे हैं, उसे अविकृत रूप से धारण करके रखने के लिए उन्हें कुछ शुद्ध आधार चाहिए। इन शुद्ध आधारों को वे एक सूत्र में गूँथकर रख देना चाहते हैं, तो भविष्य में एक संघ गढ़ ले सकेंगे। उन्होंने भले ही यह बात स्पष्ट रूप से नहीं कही, फिर भी उनके व्यवहार से यह साफ दिखायी देता था कि एक सुनिर्दिष्ट पद्धति के अनुसार उनका कार्य हो रहा है। 'लीलाप्रसंग' में उनके जीवन का सम्यक् विवेचन करते हुए स्वामी सारदानन्द ने यह प्रदर्शित किया है कि ठाकुर के जीवन की अति तुच्छ घटना भी अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। बहिरंग दृष्टि से हो सकता है कि हम सब समय उसके मर्म को न पकड़ पाएँ, पर जरा बारीकी से विचार

करके देखने पर हम यह अच्छी तरह समझ सकेंगे कि विशेष युग-प्रयोजन को साधित करने के लिए वे एक सुनिश्चित प्रणाली का अनुसरण करते हुए कार्य किये जा रहे हैं—भले ही उन्हें इसका भान न हो और वे यह मानते रहे हों कि मैं जगन्माता के हाथों यंत्र मात्र हूँ।

भाव का प्रचार

वे केवल प्रौढ़ धर्मान्वेषियों के पास ही नहीं गये, अपितु जो तथाकथित धर्मविमुख लोग थे, उनके पास भी गये, और बिना बुलाये गये। उन दिनों जो विशिष्ट गण्यमान्य व्यक्ति थे, उनसे वे आग्रहपूर्वक मिलना चाहते थे। इस आग्रह का कारण भले ही वे स्वयं न जानते हों, लेकिन यह उनकी युगोपयोगी भावधारा को संचारित करने का एक मार्ग था। वे चाहते थे कि उनके भक्तगण एकत्र हो भगवत्-प्रसंग लेकर नाचते-गाते हुए आनन्द का मेला लगाएँ, और एक ऐसा उच्च आध्यात्मिक सुर तैयार करें, जिसे समवेत श्रोतागण वहन कर ले जाएंगे और चारों दिशाओं में फैला देंगे। साथ ही वे अपने अन्तरंग भक्तों को इस प्रकार तैयार कर रहे थे, जिससे उनकी भावधारा अविकृत रूप से उन लोगों के अन्तःकरण में प्रवाहित होती रहे। उनसे वे कहते, "देखो, तुम लोग अन्यत्र कहीं भी न जाना, तुम लोग केवल यहीं पर आना।" आश्चर्यजनक बात है। जिनकी उदारता आकाश के समान सीमाहीन हो, उनके मुख से इस प्रकार की बात क्यों? इसका कारण यह है कि वैसा न होने पर वे लोग उनकी भावधारा को अविकृत रूप से प्रकाशित करने में समर्थ नहीं होंगे।

उनको माध्यम बनाकर, उनके अनजाने ही, जगन्माता के विधान से एक विशेष प्रयोजन की सिद्धि हो रही थी, और वह हो रही थी एक सुनिर्दिष्ट प्रणाली के अनुसार। भले ही वे स्वयं यह सब न जानते रहे हों; और वे जानते नहीं थे इसीलिए तो उनमें एक शिशुसुलभ सरलता दिखायी देती। एक ओर तो वे सबके लिए गुरुवत् थे, सबका भूत, भविष्य और वर्तमान देख लेते और नियंत्रित करते; फिर दूसरी ओर वे ही शिशु के समान कितने सहज-सरल और असहाय प्रतीत होते, मानो हम लोगों की सहायता के बिना खड़े भी न रह सकेंगे! तभी तो मथुरबाबू सोचा करते कि बाबा को उनके समान एक अभिभावक की विशेष आवश्यकता है, नहीं तो इस असहाय शिशु की रक्षा और देखरेख कौन करेगा? फिर उसी असहाय शिशु के सामने हम मथुर के समान दुर्दमनीय जमींदार को समर्पण के स्वर में गिड़गिड़ाते हुए भी सुनते हैं--"बाबा, बचाओ!" हम लोग कई बार इन दो विपरीत भावों में सामंजस्य नहीं बिठा पाते, न ही बिठा पाते हैं मास्टर महाशय के द्वारा ठाकुर के देखे गये दो रूपों में। एक ओर वे गम्भीर अध्यात्मतत्त्व की व्याख्या कर रहे हैं, तो दूसरी ओर छोकरों के साथ मिलकर उनके ही समान हँसी-मसखरी कर रहे हैं। एक ओर सबके भूत, भविष्य और वर्तमान का नियंत्रण कर रहे हैं, तो दूसरी ओर नितान्त असहाय शिशु के समान व्यवहार कर रहे हैं। मास्टर महाशय ने उनमें यह जो विपरीत भावों का मेल देखा, वही इस लोकोत्तर पुरुष, अवतार-पुरुष के जीवन का वैशिष्ट्य है।

○

श्रीरामकृष्ण-महिमा (६)

अक्षय कुमार सेन

(लेखक भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्यों में अन्यतम थे। बँगला भाषा में रचित उनका 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' काव्य बंगभाषियों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने वार्तालाप के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व महिमा का बड़ा ही सुन्दर प्रकाशन किया है। हिन्दी पाठकों के लाभार्थ मूल बँगला से रूपान्तरित किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन बॉयेज़ होम, रहड़ा, पश्चिम बंगाल में कार्यरत हैं।--स०)

(गतांक से आगे)

पाठक---परमहंसदेव की परीक्षा देने की कौन सी बात कही ? उनका परीक्षा देना किस प्रकार का था ?

भक्त---बहुत सी बातें हैं। अच्छा सुनो---परमहंस-देव के भाई रानी रासमणि के दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर में रानी के आग्रह पर भवतारिणी की नित्यपूजा और सेवा में नियुक्त हुए थे। तब परमहंसदेव बड़े भाई के पास बीच बीच में आकर रहते। एक दिन जब वे टहल रहे थे, उस समय मथुरबाबू उनके रक्तिम अधर, बाँके नयन, विशाल छाती, आजानुलम्बित भुजाएँ तथा बाल-रवि के समान उनकी भुवनमोहन कान्तिमय देह का दर्शन करके मन-प्राण से उनके प्रति खिच गये और उन्होंने आग्रहपूर्वक दूसरे व्यक्ति से उनका परिचय प्राप्त करके जाना कि ये बड़े भट्टाचार्य के कनिष्ठ भ्राता हैं। मथुरबाबू ने बड़े भाई से विनयपूर्वक बहुत आग्रह किया कि वे अपने छोटे भाई को अपने पास बुला लें तथा उनसे माँ-काली की पूजा का भार ग्रहण करने के लिए कहें। जब बड़े भाई ने छोटे भाई से मथुरबाबू की इच्छा जतायी, तो छोटे

ने कहा, "मुझसे बड़े आदमी के पास जाना अथवा पूजा का भार लेना सम्भव न होगा ।" मथुरबाबू ने भरसक चेष्टा की, परन्तु असफल रहे और कुछ दिन तक चुप बैठे रहे ।

ठाकुर रामकृष्ण बचपन से ही मिट्टी से देवी-देवताओं की सुन्दर सुन्दर मूर्तियाँ बनाने में सिद्धहस्त थे । मिट्टी की मूर्ति में आँख गढ़ने में उन्हें विशेष दक्षता और शक्ति प्राप्त थी । आँख बना देने से मिट्टी की मूर्ति जीवन्त प्रतीत होती । गाँव में पूजा की मूर्ति बनने पर पहले वह गदाई को दिखायी जाती । गदाई, ठाकुर के बचपन का नाम था । वे प्रतिमा के दोषों को दिखा देते, किन्तु जब तक स्वयं प्रतिमा को चक्षुदान नहीं करते थे, किसी का मन नहीं भरता था ।

उनके बड़े भाई जहाँ पर रहते थे, रामकृष्ण ने गंगा की मिट्टी से शिव और नन्दी की मूर्ति बनाकर वहाँ रख छोड़ी थी । संयोगवश मथुरबाबू की दृष्टि उस पर पड़ी । शिव और नन्दी को देख उन्हें लगा मानो वे जीवन्त हैं । उन्हें किसने गढ़ा है यह पता लगाकर उन्होंने प्रतिमा रानी को दिखायी और कहा, इनको जिसने गढ़ा है, उसे यदि माँ-काली की पूजा में नियुक्त किया जाय तो शीघ्र ही माँ-काली जाग्रत् हो जाएँगी । यह सोच उन्होंने ठाकुर के बड़े भाई से विशेप अनुरोध किया और कहा, "आपके भाई को माँ-काली की पूजा में रखना ही होगा ।" बड़े भाई के बार बार जोर देने पर ठाकुर नाही न कर पाये । उन्होंने कहा यदि हृदू (हृदय) को साथ में रखा जाय तो मैं रहूँगा । मथुरबाबू यह सुन आनन्द से भर उठे और उन्होंने ठाकुर तथा हृदय का मासिक वेतन निर्धारित कर

उन्हें पूजा-कार्य में नियुक्त कर लिया।

मथुरबाबू बीच बीच में ठाकुर के पास आकर भगवच्चर्चा करते तथा उनके वीणा-विनिन्दित कण्ठ से गीत सुनते। इस प्रकार कुछ दिन बीत गये।

ठाकुर माँ के वस्त्र-सज्जक हुए। वे प्रतिदिन माँ को नये नये ढंग से सजाते। मथुरबाबू और रानी को देखकर आश्चर्य होता। उसके बाद ठाकुर ने पूजा का कार्य सँभाला। दिन-प्रतिदिन पूजा करते करते उनके मन में तरह तरह के भाव उठने लगे। बीच बीच में उन्हें ऐसा लगता मानो बाह्य जगत् नहीं है, और कभी कभी स्वयं के शरीर का भान तक भी लुप्त होने लगा। उनका मन व्याकुल हो माँ के पीछे पीछे दौड़ता और रसना व्याकुल हो माँ-माँ कहती। कभी कभी माँ-माँ कहकर इतना रोते कि आँसू जमीन पर झरने लगते। कभी कभी माँ को चँवर ही डुलाते रहते और कभी माखन-मिश्री ले 'माँ, तू खा, माँ' कहकर माँ-काली के मुँह के पास ले जाकर खड़े रहते। कभी कभी पूजा करते समय फूल माँ के पैरों में न चढ़ाकर अपने सिर पर रख लेते और बाह्यज्ञानशून्य होकर बैठे रहते। फिर कभी माँ-काली की साँस चल रही है या नहीं, यह देखने के लिए नाक के पास रुई ले जाते। अथवा किसी दिन आरती के समय काँसर घण्टे की आवाज के बन्द हो जाने पर भी—नौबतखाने के स्तब्ध हो जाने पर भी ठाकुर के हाथ का घण्टा बजता ही रहता और पंचप्रदीप का घुमाना बन्द न होता। लगता, ठाकुर मानो यन्त्र की प्रतिमा हैं। हृदय ठाकुर के भावावेश को जानकर उन्हें पकड़ता और ठाकुर बाह्यज्ञानशून्य हो जाते। कालीबाड़ी के ब्राह्मणों को लगा कि यह मूर्छा रोग

है। इतने दिनों तक ठाकुर मनुष्य की दृष्टि में मनुष्य थे, अब पागल सिद्ध हुए। सामान्य व्यक्ति के स्वभाव के साथ मेल नहीं खाने से ही तो व्यक्ति को पागल समझा जाता है!

क्रमश: ठाकुर का भाव, महाभाव दिन में कई बार होने लगा। कालीबाड़ी के ब्राह्मणों ने अब अच्छी तरह जान लिया कि ठाकुर बेहोशी और पागलपन के रोग से ग्रस्त हो गये हैं। वे मथुरबाबू से कहने लगे कि ठाकुर किसी काम के नहीं। मथुरबाबू भी मन ही मन तरह तरह से सोचते, पर मुँह से कुछ कहने का साहस न कर पाते।

रामकृष्णदेव की महिमा देखो! ऐसे समय में दक्षिणेश्वर में एक ब्राह्मणी आ जुटीं। वे अद्भुत शक्तिसम्पन्ना थीं। भक्तिग्रन्थ, पुराण, तन्त्र आदि सब उन्हें कण्ठस्थ थे। तान्त्रिक साधनाप्रणाली की वे विशेष जानकार थीं। ठाकुर ने उन ब्राह्मणी के सम्बन्ध में एक बार कहा था कि वे चतुर्वेद-मूर्तिस्वरूपा थीं। ब्राह्मणी ने ठाकुर के अंगों में भाव-महाभाव के लक्षण देखकर उन्हें भगवान् के रूप में पहचान लिया और कालीबाड़ी में इसका प्रचार करने लगीं। पर ब्राह्मणी की बात को पहले किसी ने स्वीकार नहीं किया। बाद में जब वे शास्त्रों का प्रमाण दे लम्बे-चौड़े श्लोक उद्धृत करने लगीं, तब मथुरबाबू स्तम्भित हुए। ब्राह्मणी की शास्त्रों में ऐसी अद्भुत पारदर्शिता देख मथुरबाबू अवाक् रह गये और परीक्षा करने के लिए उन्होंने बड़े बड़े पण्डितों को बुला ब्राह्मणी के साथ शास्त्रार्थ में लगाया। ब्राह्मणी के कण्ठ में मानो सरस्वती आविर्भूत हो गयीं। उन्हें कोई पण्डित शास्त्रार्थ में हरा नहीं पाया। शास्त्रों में भाव तथा महाभाव के जो सब लक्षण वर्णित हैं, उन सब का प्रमाण दे तथा महाभाव के

समय परमहंसदेव के अंगों के सब लक्षणों को दर्शाकर ब्राह्मणी ने ठाकुर को भगवान् के रूप में प्रतिष्ठित किया। पण्डितों ने देखा कि शास्त्रों की उक्तियाँ और ठाकुर के भाव के लक्षण सब मिल जा रहे हैं, पर फिर भी वे ठाकुर को भगवान् के रूप में स्वीकार नहीं कर सके। पण्डितों की पराजय से मथुरबाबू को ब्राह्मणी के कथन पर बहुत विश्वास हुआ तथा ठाकुर के प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति बढ़ चली। तब उन्होंने ठाकुर को माँ-काली की पूजा से निवृत्त कर स्वयं के बैठकखाने के दुमंजिले में लाकर रखा तथा माँ-काली की सेवा की जिस प्रकार व्यवस्था थी, ठाकुर की सेवा की भी वैसी ही व्यवस्था कर दी। पर हजार हो, मनुष्य अपने मन का क्या करेगा! मथुरबाबू को बीच बीच में सन्देह होता। रात में वे परम सुन्दरी वेश्या को ठाकुर के पास भेजकर उनकी परीक्षा लेते।

पाठक——परमहंसदेव वेश्याओं को देखकर क्या करते थे?

भक्त——जैसे एक शिशु-स्वभाव का बालक निर्जन में किसी भयंकर राक्षसी को देख माँ-माँ चिल्लाता है और भय से जड़ हो जाता है, वैसे ही ठाकुर माँ-माँ कहकर एकदम बेहोश हो जाते थे।

पाठक——और वे वेश्याएँ?

भक्त——वेश्याओं में कोई चीख मारकर भाग जाती अथवा कोई खड़ी खड़ी रोने लगती। मथुरबाबू ने एक बार वेश्याओं को पीछे लगा ठाकुर की बड़ी कठिन परीक्षा ली थी। लक्ष्मीबाई नाम की एक वेश्या थी। वह मुनियों का मन भुला सकती थी। जैसी वह सुन्दरी थी, उसका घर-बार, साज-शृंगार भी ठीक मानो अप्सरा-जैसा था।

मथुरबाबू ने एक दिन उसके साथ सलाह-मशविरा किया, "तुम अमुक दिन शाम के समय अपने-जैसी और पन्द्रह सुन्दरियों को अच्छी तरह से सजा-धजाकर अपने घर में लाकर रखना। मैं छोटे भट्टाचार्य को साथ लेकर आऊँगा। उनके मन को अब तक कोई भुला नहीं पाया है। यदि तुम भुला सको तो मैं तुम्हें विशेष पुरस्कार दूँगा।" उसने कहा, "इसमें आश्चर्य की क्या बात ? कितने बड़े बड़े लोगों के सिर मुँड़ दिये हैं, फिर इसकी क्या बिसात !"

उसके बाद निश्चित दिन पर बाईजी ने घर में जितनी साज-शृंगार की वस्तुएँ थीं, सब शरीर पर धारण कर लीं और उसी तरह की पन्द्रह सुन्दरियों को साथ ले, सब तरह के फन्दे रचकर, वैसे ही बैठी रही, जैसे बाघिनी शिकार को पकड़ने के लिए घात जमाकर बैठी रहती है। शाम के समय मथुरबाबू ने फिटनगाड़ी में दो बड़े बड़े घोड़े जुतवाये और ठाकुर से कहा, "चलो बाबा, किले के मैदान में घूम आएँ।" ठाकुर राजी हो गये। किले के मैदान से घूमकर मथुरबाबू सन्ध्या के ठीक बाद यथास्थान उपस्थित हुए। बाहर से खबर ले ली—सब ठीकठाक था। ठाकुर को उस कमरे में पहुँचा मथुरबाबू वहाँ से चलते बने।

पाठक—ठाकुर ने क्या किया ?

भक्त—ठाकुर कमरे में प्रवेश करते ही माँ-माँ कहते हुए गीत गाते गाते समाधिस्थ हो गये। पहनी हुई एकमात्र धोती कमर से खिसक पड़ी और ठाकुर दिगम्बर हो गये !

पाठक—और वेश्याएँ ?

भक्त—वेश्याओं की बुद्धि हिरन हो गयी ! कोई

पंखा लेकर झलने लगी, कोई क्या करे कुछ सोच न पा मुँह बाये खड़ी रही, कोई उनके मुख पर जल के छींटे देने लगी और कोई 'मथुरबाबू' 'मथुरबाबू' कहकर चिल्लाने लगी। मथुरबाबू उनकी चीख सुनकर समझ गये कि कोई बड़ी मुसीबत आ पड़ी है। जाकर देखते हैं, ठाकुर समाधिस्थ हैं। वेश्याएँ मथुरबाबू को धिक्कारने लगीं, बोलीं, "अहा! ऐसे शिशुस्वभाव के व्यक्ति के साथ क्या ऐसा करना चाहिए?" मथुरबाबू ने उन्हें किसी प्रकार से मनाया और ज्योंही ठाकुर का बाह्य ज्ञान लौटा, उन्हें भावावस्था में ही गाड़ी में लेकर भाग आये।

इसके बाद मथुरबाबू मारे शर्म के ठाकुर को मुँह दिखाने से कतराते रहे? ऐसी मुश्किल हो गयी थी!

पाठक--कैसा आश्चर्य है! मनुष्य यदि सुन्दरी युवती को देखता है तो उसका लज्जा-संकोच, मान-मर्यादा का भाव मनुष्यत्व को छोड़ बिदा हो जाता है। और यहाँ पर तो ऐसी एक नहीं, सोलह सुन्दरियाँ थीं! मुझे तो यह सुनकर यही लगता है कि वास्तव में भगवान् को छोड़ कोई दूसरा ऐसा नहीं कर सकता। हम लोग तो थियेटर के लोग हैं, हमारे लिए इस दृष्टि से मनुष्य को पहचानना कोई कठिन बात नहीं। अच्छा, कांचन को लेकर भी क्या कभी परीक्षा हुई थी?

भक्त--मथुरबाबू ने एक बार ठाकुर को पचास हजार रुपये देना चाहा था। ठाकुर के अस्वीकार करने पर मथुरबाबू ने कहा, "बाबा, तुम यदि स्वयं नहीं लेते हो तो हृदू के नाम से कम्पनी के कागज खरीद देता हूँ।" ठाकुर अत्यन्त रुष्ट होकर बोले, "मैं यह भी नहीं कर सकता। हृदू के नाम पर रहने पर भी, मेरे मन में ऐसा हो सकता

है कि वह मेरा ही रुपया है, भले ही हृदू के नाम पर है।" भाई, ठाकुर के त्याग का आदर्श देखो---मन, वचन और तन से त्याग। वाचा कहती है---नहीं लेंगे, मन भी वही कहता है और फिर शरीर भी कहता है---नहीं लेंगे। ठाकुर का शरीर के द्वारा त्याग तो आँखों-देखी बात है। हाथ से रुपया या पैसा छुआने मात्र से हाथ ऐंठ जाता था तथा जड़-पदार्थ की भाँति बहुत देर तक निर्जीव बना रहता था। ऐसे अद्भुत त्याग की बात क्या कभी किसी ने सुनी है !

और एक बार की बात है। लक्ष्मीनारायण मारवाड़ी रुपया देने के लिए बहुत जोर-जबरदस्ती कर रहा था। ठाकुर को किसी प्रकार राजी न करा पाने पर वह एक दिन रुपयों का थैला लेकर उपस्थित हो गया। रुपया देखकर ठाकुर छोटे बच्चे की नाईं चीखने लगे और अन्त में बाह्य-ज्ञानशून्य हो गये। लक्ष्मी मारवाड़ी यह देख मन में कुछ सोच वहाँ से थैला उठाकर एकदम भाग गया। मथुरबाबू ने और भी कई घटनाओं से देखा था कि ठाकुर जिस प्रकार कामिनी के प्रति अनासक्त थे, उसी प्रकार कांचन के प्रति भी। ठाकुर की कांचन के प्रति अनासक्ति देख मथुरबाबू स्वयं उदार बन गये थे। वह सब घटना बाद में कहूँगा।

पाठक---भगवान् का दर्शन करने से तो संशय का नाश हो जाता है, फिर ठाकुर के पास हमेशा बने रहने पर भी मथुरबाबू को इतना संशय क्यों था ?

भक्त---मथुरबाबू थे माँ-काली के परम भक्त, वे चिरकाल के भक्त, जन्म-जन्मान्तर के भक्त थे। इस बार वे रामकृष्ण-लीला में योगदान देने के लिए ठाकुर के साथ आये थे। उनके मन में कोई सन्देह नहीं था, पर जीव-

शिक्षा के लिए ठाकुर मथुरबाबू के मन में सन्देह जगाकर इस प्रकार का खेल करते हैं। वे दिखलाते हैं कि देखो, मनुष्य की दुर्बलता कितनी दूर तक पहुँची हुई है। वे दिखाते हैं कि देखो, मनुष्य का मन कैसा है और फिर स्वयं परीक्षा देकर दिखाते हैं, देख लो, भगवान् कैसे हैं। नरदेह में आकर वे कैसी लीला करते हैं, देखो ! भाई, मनुष्य के भीतर यह जो मन है न, वह बड़ी मुश्किल की चीज़ है। फिर यदि वही मन सरल हो तो उससे बढ़कर और कोई चीज़ नहीं।

(क्रमशः)

○

भले ही श्रीरामकृष्ण के उपदेश शैक्षणिक वर्गों में उतने न भिदे हों, पर वे उन एकाकी हृदयों के साथी बने, जो स्वार्थ-सुख और वासना की खोज में भटक गये हैं। इस महान् उपदेशक की प्रेरणा से सामाजिक सहानुभूति का एक प्रबल पुनर्जागरण हुआ है। . . . उन्होंने हिन्दुत्व के गिरे हुए स्तर को धूल से ऊपर उठाने में सहायता प्रदान की है--केवल शब्दों से नहीं, अपितु कार्यतः भी।

—डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

मानस-रोग (२/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी रायपुर के इस आश्रम में विगत चार वर्षों से विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसर पर 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर प्रवचनमाला प्रदान करते आ रहे हैं। उन्होंने इस विषय पर अपना दूसरा प्रवचन २३-१-१९८० को दिया था। उनका पहला प्रवचन 'विवेक-ज्योति' के पिछले दो अंकों में प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत लेख उनके दूसरे प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं। --स०)

रामकथा के अन्त में काकभुशुण्डि और गरुड़ के संवाद के माध्यम से सप्त प्रश्न और उनके उत्तर हमारे सामने आते हैं। गरुड़जी का सातवाँ और अन्तिम प्रश्न था--- 'मानस रोग कहहु समुझाई (७/१२०/७)--आप कृपा करके मानस-रोगों का वर्णन कीजिए। इसके उत्तर में काकभुशुण्डि मानस-रोगों का वर्णन करते हैं।

गोस्वामीजी यहाँ पर दो तथ्यों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। एक तो यह कि वे व्यक्ति के अन्तर्मन के रोगों की तुलना उसके शरीर में रहनेवाले रोगों से करते हैं और कहते हैं कि जैसे शरीर का रोग व्यक्ति को अस्वस्थ और बेचैन बना देता है, वैसे ही मन का रोग भी उसे अशान्त और पीड़ित करता रहता है। दूसरी बात वे यह कहते हैं कि मनुष्य के मन में कई प्रकार के रोग भरे हुए हैं। जब उसके शरीर का एक रोग ही उसे इतना व्यथित कर देता है, तब उसके मन के इतने रोग उसे कितना व्यथित करते होंगे इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

फिर गोस्वामीजी ने मानसिक और शारीरिक रोगों की तुलना की है और उनमें जो अन्तर है, उसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि सभी व्यक्तियों के शरीर में एक ही प्रकार का रोग नहीं दिखायी देता--किसी के शरीर में एक प्रकार का कष्ट है तो दूसरे के में दूसरे प्रकार का। पर मानस-रोग ऐसे हैं, जो सब व्यक्तियों में समान रूप से पाये जाते हैं--ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिसके अन्तर्मन में इन रोगों का मूल विद्यमान न हो। यह पहला अन्तर है--मन का रोग शरीर के रोग की तुलना में सर्वव्यापक है। दूसरा अन्तर यह है कि शरीर में कोई रोग होने पर चट उसका ज्ञान हो जाता है, पर मन के रोगों के साथ विडम्बना यह है कि उसका रोगी अपने रोग को बहुधा पकड़ नहीं पाता। इसे स्पष्ट करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं--

हहिं सब कें लखि बिरलेन्ह पाए (७/१२१/२)

--ये मानस-रोग हैं तो सबको, परन्तु इन्हें जान पाते हैं कोई बिरले ही। यदि हमारे सिर में पीड़ा होने लगे तो उसका ज्ञान हमें तुरन्त हो जाता है, पर मन के रोगों की प्रवृत्ति यह है कि जिस व्यक्ति के मन में रोग होता है, वह बहुधा अपने रोगों को नहीं देख पाता। यों तो चिकित्सा-शास्त्र में ऐसे भी शरीर के रोग हैं, जिन्हें प्रारम्भ में व्यक्ति नहीं देख पाता। ऐसे रोग शरीर में भीतर ही भीतर बढ़ते रहते हैं और अचानक असाध्य होकर व्यक्ति की मृत्यु के कारण बन जाते हैं। पर ये जो मन के रोग हैं, उनकी विलक्षणता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में विद्यमान होते हुए भी अधिकांश लोग उन्हें देख पाने में असमर्थ होते हैं। इसे अधिक उचित रीति से यों भी कहा जा सकता है

कि मानसिक रोगी की सबसे विचित्रता यह है कि वह अपने को रोगी न मान सामनेवाले को रोगी समझता है।

वस्तुत: मानस-रोगों को देखने का तात्पर्य है स्वयं के दोषों को देखना। आयुर्वेद की मान्यता है कि शरीर तीन धातुओं के द्वारा संचालित होता है और इनका नाम है 'त्रिदोष'। ये त्रिदोष व्यक्ति के शरीर को स्वस्थ भी रखते हैं, फिर उसकी अस्वस्थता के भी कारण होते हैं। जब ये सन्तुलित रहते हैं तो व्यक्ति स्वस्थ रहता है और उनके असन्तुलित हो जाने पर वह रोगी हो जाता है। तो, जैसे शरीर के सन्दर्भ में कफ, वात और पित्त के ये त्रिदोष हैं, उसी प्रकार ये दोष व्यक्ति के मन में भी विद्यमान हैं, लेकिन इन दोषों को देख पाना बड़ा कठिन है। इसीलिए 'रामचरितमानस' में एक बड़ी सांकेतिक पद्धति का वर्णन किया गया है।

लंका के रणांगण में मेघनाद लक्ष्मणजी को मूर्छित करने में सफल हो जाता है। इसे आध्यात्मिक सन्दर्भ में देखने पर इसका एक विशेष तात्पर्य ध्वनित होता है। गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में मेघनाद को काम के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं—

मोह दशमौलि, तद्भ्रात अहँकार,
पाकारिजित काम विश्रामहारी। ५८/४

—मेघनाद मूर्तिमान् काम है। दूसरी ओर, मेघनाद के प्रतिद्वन्द्वी हैं लक्ष्मणजी, जिन्हें गोस्वामीजी ने घनीभूत वैराग्य के रूप में प्रस्तुत किया है। वैराग्य और काम के संघर्ष में अन्ततोगत्वा विजय तो वैराग्य की ही होती है, क्योंकि लक्ष्मणजी मेघनाद को मारने में समर्थ होते हैं, पर इस विजय की प्रक्रिया में से गुजरते हुए वैराग्य को पराजय

का भी सामना करना पड़ता है। लक्ष्मणजी के जीवन में भी पराजय का एक क्षण आता हुआ दिखायी देता है—वे मेघनाद के द्वारा मूर्छित कर दिये जाते हैं। कथा आती है कि मेघनाद जब अपने सब अस्त्रों का उपयोग करके भी लक्ष्मणजी को पराजित नहीं कर पाता, तब वह ब्रह्मा की दी हुई शक्ति को धनुष पर रखकर उन पर प्रहार करता है। शक्ति जाकर लक्ष्मणजी की छाती पर लगती है और वे मूर्छित हो जाते हैं। यहाँ गौर करने की बात यह है कि लक्ष्मण और किसी बाण द्वारा नहीं, अपितु ब्रह्मा की दी गयी शक्ति के द्वारा मूर्छित हो गये। इसका आध्यात्मिक तात्पर्य यह है कि इस सृष्टि की रचना में कभी-कभी बड़े से बड़े साधक को भी, बड़े से बड़े महापुरुष को भी जीवन में पराजय का क्षण देखना पड़ता है। कारण यह है कि बड़े से बड़ा व्यक्ति भी आखिर ब्रह्मा द्वारा निर्मित सृष्टि का ही एक भाग होगा, फलतः जब सृष्टि में गुण और दोष की मिलावट है तो उसके भाग में भी यह मिलावट बनी रहेगी। जैसे यदि किसी धातु में मिश्रण है, तो आगे चलकर भी उसमें थोड़ा न थोड़ा मिश्रण बना ही रहेगा। इसी प्रकार 'मानस' में संकेत किया गया है कि सृष्टि का निर्माण करते समय ब्रह्मा ने गुण और दोष को मिलाकर उसकी रचना की—'बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना' (१/५/४)। ऐसी स्थिति में ब्रह्मा के द्वारा निर्मित सृष्टि में जो भी जन्म लेता है, भले ही उसमें अधिकाधिक गुण हों पर दोष का उसमें सर्वथा अभाव हो यह सम्भव नहीं। और दोष का अभाव न होने की भी सार्थकता है, क्योंकि तब महापुरुष इन दोषों का दर्शन करता है और उनको दूर करने की चेष्टा करता हुआ कल्याण को प्राप्त होता है।

मेघनाद हनुमान्‌जी पर भी ब्रह्मशक्ति का प्रयोग करता है और हनुमान्‌जी भी मूर्छित हो जाते हैं, पर वहाँ पर गोस्वामीजी ने यह संकेत दिया कि हनुमान्‌जी स्वेच्छा से मूर्छित हुए। यद्यपि ब्रह्मा हनुमान्‌जी को उनकी बाल्यावस्था में यह वरदान दे चुके थे कि मेरे बाण का प्रभाव तुम पर पड़ना आवश्यक नहीं है, फिर भी हनुमान्‌जी को लगा कि यदि मैं ब्रह्मा के बाण को अस्वीकार कर दूँ, तो उनकी मर्यादा नष्ट हो जाएगी। ऐसा सोचकर वे मूर्छा स्वीकार कर लेते हैं। लक्ष्मणजी भी मूर्छित होते हैं, पर उनके जीवन में स्पष्ट रूप से मूर्छा की स्वीकृति नहीं दिखायी देती। यह बड़ा सांकेतिक प्रसंग है। गोस्वामीजी ने इसे एक दूसरे प्रकार से भी देखा।

हनुमान्‌जी बालब्रह्मचारी हैं, इसलिए वे काम के विजेता हैं। अब एक ब्रह्मचारी काम के सामने पराजित हो यह असंगत है, मर्यादा के विपरीत बात है। इसलिए गोस्वामीजी कहते हैं कि हनुमान्‌जी ने सोचा--भले ही हममें क्षमता है कि इस मूर्छा से अपने को बचा लें, लेकिन सृष्टि की मर्यादा के लिए एक क्षण के लिए मुझे मूर्छा स्वीकार कर लेनी चाहिए। लेकिन उसके साथ ही यह सावधानी भी बहुत आवश्यक है कि उस मूर्छा के परिणाम से कैसे बचें। हनुमान्‌जी ने यही किया भी। मूर्छा तो उन्होंने स्वीकार की, पर साधारणतः मूर्छा का जो परिणाम हुआ करता है, वह हनुमान्‌जी के जीवन में नहीं हुआ। जैसे किसी को मूर्छा आ जाय, तो वह बेहोश होकर गिर पड़ता है, असावधानी में गिरने के कारण उसके अंग-प्रत्यंग में चोट आ जाती है। कई बार दुर्घटनाओं के फलस्वरूप व्यक्ति बेहोश होकर गिरते देखे गये हैं और कई को तो

गिरकर मृत्यु ही हो जाती है। इसे हम मूर्छा का परिणाम कह सकते हैं। तो, हनुमान्‌जी सृष्टि की परम्परा को स्वीकार करने के लिए, साधक के जीवन में एक मार्ग प्रस्तुत करने के लिए, अपनी मूर्छा के द्वारा यह तो बताते हैं कि एक साधक या महापुरुष के जीवन में भी दोष का आभास हो सकता है, पर साथ ही यह भी प्रदर्शित करते हैं कि ऐसा होने पर भी वह दोष के परिणामों से सर्वथा अछूता रहता है। यह कला हनुमान्‌जी के जीवन में विद्यमान है। इसीलिए वे मेघनाद के बाण से मूर्छित तो होते हैं, पर मूर्छा के परिणाम से अपने को बचाकर रखते हैं, क्योंकि वे मूर्छा को स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं।

कई लोग कीर्तन में प्रेमोन्माद से मूर्छित होते हैं और कई लोग ऐसे होते हैं, जो दिखाने के लिए मूर्छित होते हैं। अब ये जो दूसरे प्रकार के नकली मूर्छित होनेवाले लोग हैं, वे जरा हिसाब-किताब से मूर्छित होते हैं कि किधर गिरने पर चोट कम लगने की सम्भावना है। वे वैसी जगह गिरना चाहते हैं, जहाँ मोटा गद्दा-वद्दा लगा हो और जहाँ गिरने से चोट न आवे। लोग जान भी लें कि ये गिर पड़े और चोट भी न लगे! इस दृष्टि से हनुमान्‌जी का गिरना विलक्षण है। वे तो स्वेच्छा से गिरते हैं। अब स्वेच्छा से पतन और परेच्छा से पतन में बड़ा अन्तर है। जैसे कोई गड्ढे में गिर पड़े और कोई गड्ढे में उतरे---इन दोनों के अन्तर को समझाने की आवश्यकता नहीं। हनुमान्‌जी भी जब स्वेच्छा से मेघनाद के बाण का आघात स्वीकार कर गिरते हैं, तो पृथ्वी पर नहीं गिरते---वे मेघनाद की सेना जिधर खड़ी है उधर गिरते हैं और---

परतिहुँ बार कटकु संघारा (५/१९/१)

—गिरते-गिरते बहुत-सी सेना मार डालते हैं। यही हनुमान्‌जी की विलक्षण कला है। वे अपने गुणों के द्वारा तो दोषों का नाश करते ही हैं, पर उनके जीवन में यह जो दोष की स्वीकृति दिखायी देती है, उसके द्वारा भी वे दोषों का विनाश करते हैं, तथापि दोषों के प्रभाव से अपने को मुक्त रखते हैं।

दूसरी ओर लक्ष्मणजी हैं। वे भी मूर्छित नहीं किये जा सकते। उन पर मेघनाद के बाण का भला क्या प्रभाव पड़ेगा? परन्तु फिर भी उन्होंने मूर्छित होना जो स्वीकार किया, वहाँ संकेत यह है कि उन्होंने सन्त की भूमिका स्वीकार की। वह सन्त की भूमिका क्या है? जैसे चिकित्सक कभी-कभी रोगी के रोग को स्वीकार करता देखा जाता है। रोगी की चिकित्सा करते समय चिकित्सक के भीतर रोगी के रोग-कीटाणु प्रविष्ट हो जाते हैं, पर इससे चिकित्सक घबराता नहीं, वह दयालुहृदय है। उसी प्रकार लक्ष्मणजी भी विभीषण की रक्षा के लिए मेघनाद द्वारा किया गया शक्ति का प्रहार अपने ऊपर झेल लेते हैं। गोस्वामीजी 'गीतावली रामायण' में लंकाकाण्ड में संकेत देते हैं कि संकट विभीषण पर आनेवाला था। मेघनाद ने रणभूमि में विभीषण को जब सामने देखा, तो उसका सारा क्रोध विभीषण पर केन्द्रित हो गया—यह सोचकर कि यही लंका के रहस्यों को शत्रुपक्ष के पास प्रकट करता रहता है। उसने विचार किया कि पहले इसी पर प्रहार करूँ और ऐसा सोच वह विभीषण पर शक्ति का प्रहार करता है। यह देख लक्ष्मणजी एक कौतुक करते हैं। वे तुरन्त विभीषण को पीछे ढकेल देते हैं और वह ब्रह्मबाण अपनी छाती पर झेल मूर्छित हो गिर पड़ते हैं। उन्हें मूर्छित देख भगवान्

श्री राम रुदन करते हुए उन्हें सम्बोधित करके कहते हैं——
मेरे पन की लाज इहाँलौं हठि प्रिय प्रान दए हैं।
लागति साँगि बिभीषण ही पर, सीपर आपु भए हैं ।। ५/४
——'अहो ! मेरी प्रतिज्ञा की तुम्हें यहाँ तक लाज है कि उसके लिए अपने प्रिय प्राण तक दे डाले हैं; इसीलिए यद्यपि शक्ति तो विभीषण के हृदय पर लगनेवाली थी, परन्तु उसकी रक्षा करने के लिए तुम उसकी ढाल बन गये !'

अब, विभीषण जीव के प्रतीक हैं और लक्ष्मण की भूमिका आचार्य की, गुरु की है। जीव पर आनेवाले आघात को, दोष को सृष्टि की मर्यादा के लिए गुरु स्वयं स्वीकार कर लेते हैं और मूर्छित हो जाते हैं। तो, यहाँ पर लक्ष्मणजी के चरित्र में करुणावृत्ति की प्रधानता ही दिखायी देती है।

सन्तगाथा में एक प्रसिद्ध कथा है। किसी साधक के मन में दुर्बलता की वृत्ति आ गयी। उसका मन बार-बार उधर जाने को करता, जिधर वेश्याएँ रहतीं। जब भी वह उधर जाता, अपने गुरु को सामने खड़े हुए देखता। वह रात में कई बार वेश्या के दरवाजे तक गया और हर बार गुरु को वहाँ खड़े देख वापस लौट आया। तब तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने सुबह गुरुजी से पूछ ही दिया—— "मैंने आपके दर्शन कल रात वहाँ किये यह कैसी बात है ?" गुरु बोले, "यह तो तुम्हारी कृपा है ! रात भर तुम जिस तरह व्यग्र थे, तुम्हारे मन में वासना की ज्वाला जिस तरह धधक रही थी, वह देख तुम्हारी रक्षा के लिए मुझे बार-बार वहाँ उपस्थित रहना पड़ा !" अब गुरु की वेश्यालय में यह जो उपस्थिति है, वह शिष्य की रक्षा के लिए, उसके कल्याण के लिए है। इसी प्रकार लक्ष्मणजी भी सृष्टि की मर्यादा को स्वीकार कर, जीव की रक्षा के लिए, मेघनाद

द्वारा चलाये गये शक्तिबाणरूप दोष को स्वीकार कर लेते हैं और मूर्छित हो गिर पड़ते हैं। हनुमान्‌जी उन्हें उठाकर ले आते हैं और प्रभु की गोदी में रख देते हैं। यहाँ वैराग्य दो भूमिकाओं में दिखायी दे रहा है। लक्ष्मणजी भी मूर्तिमान् वैराग्य हैं और हनुमान्‌जी भी। एक वैराग्य मूर्छित है और दूसरा चैतन्य। चैतन्य-वैराग्य मूर्छित-वैराग्य को ले जाकर प्रभु की गोद में रख देता है। अब इस मूर्छित-वैराग्य की चिकित्सा कैसे की जाय? यदि भगवान् राम चाहते, तो अपनी ईश्वरीय पद्धति से लक्ष्मण को तत्काल चैतन्य कर दे सकते थे। इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर यदि चाहे तो अपनी चामत्कारिक पद्धति से साधक के अन्तर्मन के दोषों को मुहूर्त मात्र में दूर कर दे सकता है। साधकों के जीवन में ईश्वर की कृपा का ऐसा प्रयोग कभी-कभी दिखायी भी देता है। पर साधक ईश्वर की ऐसी कृपा के कारण कहीं निष्क्रिय न हो जाय, ऐसा न मान ले कि दोषों के निराकरण के लिए केवल ईश्वर की कृपा ही यथेष्ट है, दोष-निवारण में अपनी भूमिका के प्रति कहीं वह भ्रान्ति में न पड़ जाय, इसलिए 'रामचरितमानस' में कृपा-पद्धति के साथ-साथ साधना-पद्धति का भी वर्णन किया गया है। कृपा-पद्धति का सहारा लेने पर भगवान् राम लक्ष्मण से कह सकते थे—"लक्ष्मण! उठो और बैठ जाओ!" और लक्ष्मण उठकर बैठ जाते। पर वे ऐसा नहीं करते। वे तो नरलीला कर रहे हैं—'उमा करत रघुपति नरलीला' (६/६५/१)। अतः वे इस समस्या का समाधान मानवीय पद्धति से करना चाहते हैं। वे मानो यह बताना चाहते हैं कि जब हमारा वैराग्य, हमारे जीवन का सद्‌गुण किसी दुर्गुण के प्रहार से मूर्छित हो जाय, तो किस पद्धति के द्वारा

उस प्रहार को झेला जाय और उसके परिणाम से अपने को मुक्त कैसे किया जाय। वे नरलीला करते हुए हनुमान्‌जी से उपाय पूछते हैं। हनुमान्‌जी प्रभु के सामने एक के बाद दूसरा विकल्प रखते जाते हैं। वे एक उपाय यह भी रखते हैं——

तौ चंद्रमहि निचोरि चैल-ज्यों,

आनि सुधा सिर नावौं (गीतावली, लंका०, ८/१)

——मैं चन्द्रमा को वस्त्र के समान निचोड़कर उससे अमृत लाकर आपको सिर नवाऊँगा। मैंने सुना है कि चन्द्रमा में अमृत है। वह अमृत लक्ष्मणजी के मुँह में डाल देने से वे चैतन्य हो उठेंगे।

प्रभु कहते हैं——"नहीं, हनुमान्! तुम्हीं ने तो एक दिन कहा था——'ससि तुम्हार प्रिय दास' (६/१२क)। अब एक भक्त को बचाने के लिए दूसरे भक्त को निचोड़ डालने का प्रस्ताव कुछ उचित नहीं मालूम होता, वह मुझे स्वीकार्य नहीं लगता।" तब हनुमान्‌जी ने कहा, "फिर ऐसा करता हूँ कि राहु को लाकर उसके द्वारा सूर्यग्रहण करवा देता हूँ, जिससे सूर्योदय ही न हो और लक्ष्मणजी के प्राण बचे रहें" इस पर प्रभु बोले, "हनुमान्, हम लोग संसार में अँधेरा फैलाने तो आये नहीं हैं कि वृथा सूर्य के प्रकाश को ढकवा दें! हम तो प्रकाश फैलाने आये हैं। इसलिए अँधेरा फैलाकर यदि लक्ष्मणके प्राण बचाये गये, तो वह मुझे आदर्श के अनुकूल नहीं लगता।"

हनुमान्‌जी ने तब तीसरा विकल्प प्रस्तुत किया। कहा——"पटकौं मीच नीच मूषक-ज्यौं, सबहिको पापु बहावौं (८/३)——आप आदेश दीजिए तो नीच मृत्यु को मूषक के समान पटक दूँ और इस प्रकार सभी का पाप

काट दूँ।" हनुमान्‌जी का तात्पर्य यह था कि व्यक्ति मृत्यु के द्वारा मरता है। अब अगर मृत्यु को ही मार डाला जाय, तो किसी के भी मरने का डर नहीं रहेगा, और इस प्रकार लक्ष्मणजी भी मृत्यु की पकड़ से बच जाएँगे। इस पर प्रभु ने पूछा—"अच्छा, हनुमान्! यह बताओ मृत्यु का निर्माण किसने किया ?"

"आपने।"

"जानते हो मैंने मृत्यु को क्यों बनाया ?—इसलिए कि लोगों में वह भय की सृष्टि करे, जिससे वे सही दिशा में चलें। जब मृत्यु का भय होने पर भी लोग मनमाना आचरण करते हैं, तब यदि तुम मृत्यु को मार डालोगे तो उनका आचरण और भी मनमाना हो जाएगा। तब तो उनके जीवन में भय की वृत्ति जगेगी ही नहीं और वे अपने को अजर-अमर समझकर न जाने फिर कितनी मनमानी करेंगे।"

"तब फिर, महाराज, स्वर्ग के वैद्य अश्विनीकुमारों को पकड़कर ले आऊँ ?"—हनुमान्‌जी ने अगला प्रस्ताव रखा।

भगवान् राम ने उसके लिए भी मना किया। तब जाम्बवान् ने सुझाव दिया—"सुना है, महाराज, लंका में कोई नामी वैद्य हैं। यदि आपकी अनुमति हो, तो उन्हें बुलाया जा सकता है।" और प्रभु ने प्रसन्न होकर तुरत अनुमति दे दी।

यदि भौतिक सन्दर्भ में इस तथ्य पर विचार करें, तो बात बड़ी अटपटी मालूम होती है। कहीं कोई व्यक्ति शत्रु के वैद्य के द्वारा अपनी चिकित्सा कराता है ? वह तो डरेगा कि कहीं शत्रु का वैद्य उसे दवा के स्थान पर जहर न दे दे।

शत्रु के वैद्य पर भला कौन भरोसा करेगा ? लेकिन भगवान् राम का तर्क बढ़िया है। उनका अभिप्राय यह है कि भले ही आप शारीरिक सन्दर्भों में शत्रु के वैद्य पर भरोसा न करें, पर मानसिक सन्दर्भों में शत्रु का वैद्य ही अधिक काम का होगा। यह बड़ा सांकेतिक प्रसंग है। वैद्य कौन है ?— वह जो त्रिदोष का ज्ञाता है। इसका तात्पर्य यह कि जो दोष देखने में जितना पटु होगा, वह उतना ही कुशल वैद्य होगा। अब जो मित्र-वैद्य है, वह तो दोषों को उतनी बारीकी से नहीं देखेगा, जितनी कि शत्रु का वैद्य। और वैद्य बिना दोष देखे दवा देगा नहीं। अतएव भगवान् राम का तात्पर्य यह था कि दोषदर्शी ही अगर बुलाना है, तो लंका से बुलाओ।

तो, शरीर के सन्दर्भ में चिकित्सा की पद्धति यह है कि जो मित्र है, वह हमारा चिकित्सक हो। पर मन के सन्दर्भ में चिकित्सा की पद्धति यह है कि शत्रु का चिकित्सक ही हमारे लिए अधिक काम का होगा। वह हमारे दोषों को गहराई से छानबीन करके देखेगा। वह उन दोषों को उजागर कर देगा, जिनको हम अपने प्रति पक्षपात के कारण देख नहीं पाते हैं। इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध छन्द है।

पल्टूदासजी एक प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। वे बड़े विरागी थे। फिर भी कुछ लोग उनकी कठोर आलोचना किया करते। ऐसे आलोचकों में जो सबसे प्रखर था, उसकी एक दिन मृत्यु हो गयी। पल्टूदासजी के भक्त इस पर बड़े प्रसन्न हुए कि चलो, उस दुष्ट से तो पीछा छूटा। पर जब यह समाचार पल्टूदासजी को दिया गया, तो उनकी आँखों से आँसू निकलने लगे। भक्तों को अचरज हुआ। कहा—

महाराज ! ऐसे दुष्ट व्यक्ति की मृत्यु पर आप आँसू बहा रहे हैं, जो निरन्तर आपकी झूठी निन्दा किया करता था ! पल्टूदास बोले—

सुना कि निन्दक मरि गया पल्टू दिया है रोय ।
निन्दक जीवै जुगन जुग काम हमारो होय ।।

भला उससे क्या काम होगा, महाराज ?—

काम हमारो होय बिना कौड़ी को चाकर ।
कमर बाँधि के फिरै करै तिहुँ लोक उजागर ।।
उसे हमारी खबर पलहुँ भर नाहिं बिसारी ।
लगा रहै दिन रैन प्रेम से देता गारी ।।
भक्त कहै दृढ़ करै जगत को भरम छुड़ावै ।
निन्दक गुरू हमार राम सो उही मिलावै ।।

—काम यह होगा कि हमारे दोष सुनकर यदि लोग न आवें, तो भीड़ से पीछा छूटा । फिर उसने पैनी दृष्टि से हमारे दोषों को देखा, तो उसका लाभ यह होगा कि जो दोष हमें दिखायी नहीं देते थे, उनकी ओर हमारी दृष्टि जाएगी और उनको दूर करने के लिए हम सचेष्ट होंगे ।

इसीलिए भगवान् राम तुरन्त जाम्बवान् के सुझाव को स्वीकार कर लेते हैं और शत्रुनगर के वैद्य के द्वारा लक्ष्मणजी की चिकित्सा कराते हैं । इसके माध्यम से वे साधक को मानो यह संकेत देते हैं कि जब भी हम अपने अन्तर्मन के दोषों को देखना चाहें, तब अपने विरोधी की कसौटी पर अपने को कसकर देखें । विरोधी की बात को यह कहकर न टाल दें कि अरे, वह तो विरोध ही करता रहता है, बल्कि यह देखने की चेष्टा करें कि उसकी बातों में कुछ तथ्य है या नहीं । इसीलिए 'रामचरितमानस' में गोस्वामीजी ने मानस-रोगों की व्यापकता का वर्णन किया

है और यह संकेत दिया है कि यदि व्यक्ति अपने मानस-रोगों की चिकित्सा कराना चाहता है, तो वह केवल अपने प्रशंसकों की ही चिन्ता न करे अपितु ऐसे लोगों की भी खोज करे, जो उसमें दोष देखता है।

गोस्वामीजी की यह मान्यता है कि संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिसके मन में रोग के मूल कीटाणु विद्यमान न हों। पर इसके साथ ही वे यह भी कहते हैं कि इसे देख पाना बड़ा कठिन है। इसलिए चाहे कोई मैत्रीभाव से इन दोषों को देखे चाहे शत्रुभाव से, अपने दोषों की समीक्षा कराने में व्यक्ति को संकोच नहीं करना चाहिए। इसको स्पष्ट करने के लिए उन्होंने रामायण के महानतम पात्रों में से एक––देवर्षि नारद––का चुनाव किया। नारद एक महान् आचार्य हैं, सन्त हैं। उनसे बढ़कर उत्कृष्ट व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। वे महान् योगी हैं, महान् ज्ञानी हैं। पर ऐसे नारद के मन में भी दोषों का उदय होता है।

काकभुशुण्डिजी गरुड़ के समक्ष शरीर और मन के रोगों की तुलना करते हुए कहते हैं––

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा।।
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई।
उपजइ सन्यपात दुःखदाई।। ७/१२०/३०-३१

आदि। और यह सब गिनाने से पूर्व कहते हैं कि 'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला' (७/१२०/२९)––सारी व्याधियों के मूल में मोह है। इसे यदि नारदजी के प्रसंग में देखें, तो बात स्पष्ट हो जाती है। यह जो कहा गया कि सारे शारीरिक और मानसिक दोषों के मूल में मोह है, इसका क्या

अर्थ ? साधारणतया लोग मोह को अज्ञान का पर्याय मान लेते हैं, पर ऐसी बात नहीं। अज्ञान अलग है और मोह अलग। ज्ञान का अभिप्राय है जानना, इसलिए अज्ञान का अभिप्राय हुआ 'नहीं जानना'। और मोह का तात्पर्य उस वृत्ति से है, जहाँ जानकर भी न जानने के समान आचरण है। 'रामचरितमानस' की दृष्टि से मोह उसे माना गया है, जहाँ व्यक्ति अपने प्राप्त ज्ञान का दुरुपयोग करता है। शरीर के रोग भी इसी मोह के कारण हुआ करते हैं। व्यक्ति जानता है कि यह भोजन नहीं करना चाहिए अथवा इस प्रकार का आचरण नहीं करना चाहिए। जब वह जानकर भी अपने जाने हुए सत्य का तिरस्कार करता है, तो उसे रोग होता है। अज्ञान के कारण यदि व्यक्ति में दोष आ जाय, तो वह क्षम्य है, पर व्यक्ति के रोगों का कारण बहुधा यह होता है कि वह जान-बूझकर अपने जाने हुए सत्य की उपेक्षा करता है।

इस सन्दर्भ में यदि हम नारदजी के चरित्र पर विचार करके देखें, तो हमें लगेगा कि जितने मानस-रोग गिनाये गये हैं, उनमें अधिकांश ही उनमें आ गये हैं। तथापि नारद-प्रसंग का वर्णन करते हुए काकभुशुण्डिजी गरुड़जी को नारद के अपार मोह की कथा सुनाते हैं—'पुनि नारद कर मोह अपारा' (७।६३।८)। यहाँ पर इसके बदले यह पंक्ति भी तो लिखी जा सकती थी—'पुनि नारद कर काम अपारा', अथवा 'पुनि नारद कर क्रोध अपारा'; क्योंकि नारद में काम और क्रोध भी तो चरम सीमा का आ गया था। वे काम से बेचैन होकर विवाह करना चाहते थे और क्रोध से अन्धे होकर साक्षात् भगवान् को ही शाप दे बैठे ! पर काकभुशुण्ड उन्हें 'मोह'-ग्रस्त बतलाते हैं

और भगवान् शंकर भी उनके लिए 'मोह' शब्द का उपयोग करते हैं। इस प्रसंग के माध्यम से मानो गोस्वामीजी हमें सावधान कर देते हैं कि नारद-जैसा श्रेष्ठ व्यक्ति भी अपनी थोड़ी-सी भूल के कारण कैसे सारे रोगों को निमंत्रण दे बैठता है। शरीर के रोगों के सन्दर्भ में भी यही बात है। व्यक्ति सोचता है कि हम रोज ही तो स्वास्थ्य के नियमों का पालन कर रहे हैं, अब एक दिन यदि न करें तो क्या हानि है? पर यह दृष्टिकोण सही नहीं। नित्य स्वास्थ्य के नियमों का पालन करने के बाद भी व्यक्ति यदि एक दिन भी कुपथ्य करेगा, तो उसके शरीर पर उसका कुप्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा। इसलिए साधक को सतत सावधान रहना चाहिए।

शंकरजी पार्वती को यही प्रसंग सुनाते हैं। पार्वतीजी पूछती हैं——भगवान् का अवतार क्यों होता है? इसके उत्तर में शंकरजी कहते हैं——भगवान् के अवतार के कई कारण हैं, पर उनका एक अवतार तो नारदजी के शाप के कारण हुआ——

नारद श्राप दीन्ह एक बारा।
कलप एक तेहि लगि अवतारा ।। १।१२३।५

पार्वतीजी यह सुन आश्चर्य से शंकरजी का मुँह देखने लगीं। वे उन्हें बीच में ही रोककर कह उठीं——

यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी।
मुनि मन मोह आचरज भारी ।। १।१२३।८

वे भी मुनि के सन्दर्भ में 'मोह' शब्द का ही उपयोग करती हैं। उन्हें बड़ा आश्चर्य लगता है कि देवर्षि नारद-जैसे व्यक्ति के जीवन में भी मोह और दुर्गुण-दुर्विचारों का उदय होता है। तब शंकरजी नारद का चरित्र सुनाते

हैं । देवर्षि नारद के चरित्र को देखने पर यह बात समझ में आती है कि मानस-रोगों की परम्परा किस प्रकार व्यक्ति के जीवन में जन्म लिया करती है ।

नारद के सन्दर्भ में एक विशेष बात यह आती है कि उनके दो परम शुभचिन्तकों और महानतम व्यक्तियों ने उनमें दोष देखा, फिर उनके एक विरोधी व्यक्ति ने भी उनमें दोष के दर्शन किये । पर नारद बहुत दिनों तक अपना दोष नहीं देख पाये । मानसिक रोगी का यह बड़ा विचित्र मनोविज्ञान होता है कि वह अपना रोग स्वयं नहीं देख पाता, और कभी कभी तो वह वैद्य में ही दोष देखने लगता है । नारदजी की भी यही दशा हुई । भगवान् शंकर ने यदि नारद के दोषों को देखकर दूर करने की चेष्टा की, तो भगवान् विष्णु ने भी उनके दोषों को देख-कर उनकी चिकित्सा की व्यवस्था की । पर नारद को भगवान् शंकर और भगवान् विष्णु दोनों में ही दोष दिखायी पड़ने लगे । उन्हें लगा कि शंकरजी बड़े ईर्ष्यालु हैं, और भगवान् विष्णु को तो वे कितनी ही गालियाँ सुना बैठते हैं ।

फिर, दक्ष प्रजापति ने भी देवर्षि नारद में दोष देखा । कथा आती है कि नारदजी ने अपने उपदेश के द्वारा दक्ष के लड़कों को संन्यासी बना दिया । इस पर दक्ष प्रजापति अत्यन्त रुष्ट हो गये और देवर्षि को शाप दे दिया कि तुम एक स्थान पर गोदोहनवेला से अधिक यानी दो घड़ी से अधिक नहीं टिक पाओगे, तुम्हें सतत चलते रहना पड़ेगा । क्योंकि दक्ष को लगा कि यदि नारद कहीं अधिक देर रुकते हैं, तो लोगों का घर-बार छुड़ा देते हैं । अतएव यदि वे अधिक देर तक एक स्थान पर न टिक सकें, तो वह गृहस्थों

के लिए अच्छी बात होगी---उनका परिवार सुरक्षित रह सकेगा । अब भले ही देवर्षि का यह सतत घूमते रहना उनके लिए शाप था, पर लोक-कल्याण की दृष्टि से तो बहुत अच्छी बात हुई । यदि वे कहीं अधिक देर रुकते, तो शायद कम लोगों का कल्याण हुआ होता । पर वे कम देर रुकते हैं । इसलिए निरन्तर अधिकाधिक लोगों का सम्पर्क उन्हें प्राप्त होता रहता है । फिर संसार में अधिक घूमने के कारण वे संसार के दु:खों और दोषों से भी घनिष्ठ रूप से परिचित होते हैं । पुराणों में कथा आती है कि देवर्षि नारद संसार की व्यथा भगवान् के पास जाकर निवेदित करते हैं । सत्यनारायण की कथा आपने सुनी ही होगी । उसके मूल में भी यही बात है । नारद सारे लोकों में घूमते हुए मृत्युलोक में आये । उन्होंने देखा कि सारे लोग दु:खी हैं । तब वे भगवान् के पास गये और उनसे कहने लगे कि प्रभु, इन संसारी लोगों का दु:ख कैसे दूर हो यह बताइए ।

यह नारद के चरित्र का एक चित्र है, पर इस नारद-मोह के प्रसंग में नारद का एक दूसरा ही चित्र आता है, और वह है एक महान् योगी का चित्र । यहाँ पर गोस्वामीजी उनके योग-पक्ष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं । मानो यह बताते हैं कि सतत साधना के द्वारा दोषों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए उन्हें कैसे पराजित किया जा सकता है । पर इसके साथ ही वे हमें इस बात के लिए सावधान भी कर देते हैं कि ऐसे महान् योगी के जीवन में भी किस दोष के कारण वैसी पतन की स्थिति आती है ।

नारद भ्रमण करते हुए हिमालय की उपत्यका में आते हैं । सारे संसार में हिमालय परम पवित्र माना जाता

है। तो, वहाँ नारद एक ऐसी गुफा के पास पहुँचे, जिसके समीप ही गंगाजी की धारा बह रही थी। गोस्वामीजी कथा का प्रारम्भ यहीं से करते हैं। लिखते हैं---

हिमगिरि गुहा एक अति पावनि।
बह समीप सुरसरी सुहावनि।।
आश्रम परम पुनीत सुहावा।
देखि देवरिषि मन अति भावा।। १।१२४।१-२

ऐसा पवित्र और सुन्दर स्थान देख देवर्षि के मन में आया कि मैं समाधि में प्रवेश करूँ। उन्होंने योग-साधना के लिए भगवान् का स्मरण किया, फिर भगवन्नाम-रूप नाद-क्रिया के द्वारा तुरीयावस्था में प्रवेश पाने की चेष्टा की। काल की गति अवरुद्ध हो गयी, फलतः दक्ष का शाप भी प्रभावहीन हो गया। दक्ष का शाप वहीं प्रभावी होता, जहाँ काल की घड़ी चल रही होती, पर जहाँ घड़ी ही बन्द हो गयी, वहाँ दो घड़ी का कोई अर्थ न रह गया। इसीलिए दक्ष का शाप प्रभावहीन हो गया। तो, एक ओर नारदजी हैं, जिनकी समाधि में घड़ी बन्द हो जाती है और दूसरी ओर हम लोग हैं, जो पूजा-पाठ में भी घड़ी लेकर बैठ जाते हैं! गोस्वामीजी लिखते हैं--

सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी।
सहज बिमल मन लागि समाधी।। १।१२४।४

---नारद का मन सहज वैराग्ययुक्त है, परम पवित्र है। वे गुफा में बैठकर समाधि में तल्लीन हो जाते हैं।

(क्रमशः)

○

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम.ए.

(१) अकथ कहानी प्रेम की

एक बार गौतम बुद्ध वंशदाव विहार में पहुँचे। वहाँ उन्होंने अनिरुद्ध, नन्दिय आदि भिक्षुओं से प्रश्न किया, "आयुष्यमानो, तुम लोग सकुशल तो हो ? तुम्हें शिक्षा में कोई कठिनाई तो अनुभव नहीं होती ?"

"नहीं, नहीं ! भन्ते ! हम तो परस्पर दूध-जल की तरह घुले हुए हैं। आनन्द और प्रेमपूर्वक रहते हैं, फिर कठिनाई कैसी ?"—नन्दिय ने उत्तर दिया।

"क्या कहा ?—दूध और जल की तरह घुले हुए हो ? बात मेरी समझ में नहीं आयी, जरा स्पष्ट करो।"

"भन्ते ! मेरे जो अन्य साथी हैं, वे मन और वचन से सबके साथ मित्रवत् व्यवहार करते हैं। उनका प्रेम और सहयोग देख मेरी इच्छा होती है कि मैं भी उनके साथ वैसा ही व्यवहार करूँ। यही दशा सब शिष्यों की है। हम एक-दूसरे को अपने से भिन्न नहीं समझते।"

"अच्छा ! वे क्या-क्या करते हैं, तनिक विस्तार से बताओ तो ?"

"हममें से जो भी ग्रामों से भिक्षाटन करके सबसे पहले आता है, वह सबके लिए आसन लगाता है और सबके भोजन की व्यवस्था करता है। फिर भोजन करता है और उच्छिष्ट या बचे अन्न को वैसे ही छोड़ नहीं देता बल्कि दूर स्थान में छोड़ आता है। जब अन्य शिष्य भिक्षाटन से लौटते हैं और भोजन करते हैं, तो उनके भोजनोपरान्त वह उनके आसन समेटता है और वहाँ झाड़ू लगाता है। इसी तरह हर कोई एक दूसरे की सहा-

यता कर उनके कामों में हाथ बँटाता है । यहाँ के सब शिष्य प्रेमपूर्वक रहते हैं और कभी आपस में कलह नहीं करते ।"

(२) अचल अकिंचन सुचि सुख धामा।

हजरत उमर तब खलीफा थे । उन्होंने अपने सरदारों को हिदायत दी थी कि जब भी कोई प्रजा कोई काम लेकर आए, तो उसका काम तुरन्त कर दिया जाए ।

एक दिन इशरत नामक एक मंत्री के घर एक आदमी शुक्रवार के दिन मध्यरात्रि को आया । दरवाजा ठकठकाने पर मंत्री ने अन्दर से कह दिया कि इतनी रात को वह बाहर आने से मजबूर है । उसने इसके लिए क्षमा माँगी और निवेदन किया कि वह दूसरे दिन कभी भी आ जाए ।

उस व्यक्ति ने दूसरे दिन हज़रत उमर से मंत्री की शिकायत की । खलीफ़ा ने सुना तो नाराज़ होकर इशरत से जवाब-तलब की । इशरत ने नम्रता से जवाब दिया, "हुजूर, अल्लाह गवाह है कि आज तक मैंने किसी को मना नहीं किया था, मगर कल जुम्मा था और मजबूरी के कारण मुझे वापस लौटाना पड़ा ।"

"तुम्हारी क्या मजबूरी थी, जरा हम भी तो जानें ?"— खलीफ़ा ने कहा ।

"मेरी मजबूरी को मुझ तक ही रहने दीजिए । अगर बताऊँगा, तो मेरे जीवन का राज़ खुल जाएगा ।"

"तुम एक जिम्मेदार मंत्री हो और रिआया का खयाल तुमको रखना ही चाहिए। किसी भी कर्मचारी का राज, राज नहीं रहना चाहिए, उसे बयान करना ही चाहिए ।"

इशरत ने कहा, "हुजूर ! हफ्ते के छह दिन मैं काम में बड़ा ही व्यस्त रहता हूँ । जुम्मे की रात को समय

निकालता हूँ। मेरे पास कपड़ों का एक ही जोड़ा है और उसे जुम्मे की रात धोता हूँ। इस हालत में बाहर कैसे आ सकता हूँ? फिर इबादत भी करनी होती है, उसके लिए भी समय नहीं मिलता। मेरा 'राज' बस यही था।"

हजरत ने सुना, तो गद्गद हो गये। उनकी आँखों से आँसू बह निकले। खुदा का उन्होंने शुक्र अदा किया कि उनके राज्य में ऐसे भी मंत्री मौजूद हैं, जो अपनी जिम्मेदारी खूब समझते हैं। न तो वे जनता के प्रति गाफ़िल हैं और न खुदा को भूलते हैं, बल्कि सरकारी खजाने का एक पैसा लेना भी गुनाह समझते हैं।

(३) ईश्वरः सर्वभूतानाम्

एक व्यक्ति सन्त एकनाथ के पास आकर बोला, "महाराज! मुझे भगवद्भक्ति का सरल उपाय बताइए। मैं आपके पास आत्मकल्याण हेतु हमेशा के लिए आया हूँ।"

"क्या तुम अकेले हो या गृहस्थ-धर्म का पालन करते हो?"——एकनाथजी ने उससे प्रश्न किया।

"जी, मेरा विवाह हो चुका है और मैं स्त्री-बच्चों का त्याग कर आपके पास बड़ी आशा लेकर आया हूँ।"

"क्या तुम्हारी पत्नी ने तुम्हें अनुमति दी है?"

"जी नहीं, वह जब नींद में बेखबर थी, तो मैं भागकर निकल आया हूँ।"

"और बच्चे?"

"बच्चे भी सो रहे थे, लेकिन मेरा धक्का लगने से छोटा बच्चा रोने लगा, तब मैं छिप गया। मगर पत्नी ने आँखें बन्द किये ही उसे छाती से लगा लिया और मैं चुपचाप यहाँ निकल आया। मुझे शंका थी कि यदि पत्नी जाग जाए तो मेरा भाग निकलना सम्भव न हो सकेगा।

महाराज, मैंने घर-गृहस्थी त्याग दी है और अब भगवान् की सेवा करना चाहता हूँ।"

एकनाथ बोले, "मूर्ख, जिस भगवान् की सेवा करने की इच्छा से तू यहाँ आया है, वह तो तेरे घर में ही है और उसे तूने त्याग दिया है! अरे, भगवान् तो घट-घटव्यापी है। जब तक तू अपने घर के भगवान् की सेवा नहीं करेगा, तेरा उद्धार नहीं होगा। अरे मूर्ख, त्याग आत्मीय लोगों का नहीं, मन के विकारों का करना होता है और तभी प्रभु प्रसन्न होते हैं।"

वह व्यक्ति चुपचाप घर वापस लौट गया।

(४) अभिमान ही दुर्गति का कारण

एक बार गुरु तेगबहादुर के सत्संग में एक कलन्दर आया। उसके साथ एक रीछ भी था, जिसे उसने एक वृक्ष से बाँध दिया था। गुरु साहिब ने जो देखा, तो उससे पूछा, "जानता है, तूने पेड़ से किसे बाँधा है?"

"हाँ, मेरा रीछ है वह!" कलन्दर ने उत्तर दिया।

"मूर्ख, वह रीछ नहीं, तेरा पिता है," गुरुसाहिब ने कहा।

कलन्दर को विश्वास न हुआ, आश्चर्यचकित हो उसने पूछा, "क्या यह मेरा पिता है? गुरु साहिब! आप भी कैसी बातें करते हैं! भला एक जानवर मेरा बाप होगा?"

"हाँ, यह तेरा पिता ही है, जो इस जन्म में तेरा रीछ बन गया है।"

कलन्दर को गुरु साहिब के कथन पर अभी भी विश्वास नहीं हो रहा था। उसने कहा, "ऐसा कैसे हो सकता है?"

"तब सुन, यह कैसे हुआ," और गुरुसाहिब ने कहना

शुरू किया, "एक बार गुरु हरगोविन्द साहिब का प्रवचन था। प्रवचन के बाद तेरा पिता सबको प्रसाद बाँटने लगा। पास की ही सड़क से मालवे के कुछ लोग बैलगाड़ी से माल ले जा रहे थे। उन्होंने प्रसाद बँटता देख गाड़ी रोक दी और वहाँ आकर प्रसाद प्राप्त करने के लिए तेरे पिता के सामने हाथ बढ़ाया। मगर तेरे पिता ने उनकी ओर ओर ध्यान न देकर नीचे बैठे लोगों को प्रसाद देना शुरू किया। जब उनमें से एक ने तेरे पिता से प्रसाद देने की प्रार्थना की, तो वह 'देता हूँ, जरा ठहरो' कहकर दूसरों को देने लगा। थोड़ी देर बाद दूसरे गाड़ीवान ने उससे कहा, "यदि जल्दी दोगे तो हम गाड़ी लेकर आगे बढ़ जाएँगे।" इस पर तेरा पिता बोला, "यदि थोड़ी देर रुक ही गये, तो क्या होगा!" और वह फिर दूसरों को प्रसाद बाँटने लगा। जब तीसरे गाड़ीवान ने प्रसाद देने की प्रार्थना की तो उसके काले हाथ को देखकर तनिक गुस्से में तेरे पिता ने कहा, "अरे रीछो! जल्दी क्यों करते हो। तुम्हारी बारी आने पर मैं खुद ही प्रसाद दूँगा।"

उन लोगों ने देखा कि प्रसाद जल्दी नहीं मिल रहा है और आगे बहुत दूर जाना है, तब वे दुःखी हो, निराश मन से लौटने लगे कि इतने में उनमें से एक को प्रसाद का एक कण नीचे गिरा हुआ दिखायी दिया। उसने उसे उठा लिया और आपस में बाँटकर खा लिया। लेकिन एक ने जाते-जाते तेरे पिता से कहा, "हम तो रीछ नहीं हैं, मगर हाँ, अगले जन्म में तुम जरूर रीछ बनोगे।" और उनके शाप का परिणाम है कि तेरा पिता अब रीछ बन गया है और संयोग से तू ही उसका मालिक है।"

कलन्दर ने सुना, तो उसे बड़ा दुःख हुआ, बोला,

"महाराज, मैं अपने पिता के बदले माफी माँगता हूँ।" तब गुरु महाराज ने रीछ को प्रसाद खिलाया। इससे उसकी देह छूट गयी और रीछ-योनि से उसे मुक्ति मिल गयी।

(५) निर्मल मन जन सो मोहि पावा

धन्ना जाट के घर के पास ही त्रिलोचन नामक एक ब्राह्मण रहता था, जो बड़ा घमण्डी था। धन्ना जाट ने सोचा कि इसका घमण्ड दूर किया जाए। एक दिन वे उसके घर गये। उस समय वह पूजा कर रहा था। सन्त धन्ना बाहर नीचे बैठ गये। पूजा खत्म होने पर जब त्रिलोचन बाहर आया, तो धन्ना ने पूछा, "क्या आप पूजा कर रहे थे?"

"हाँ," ब्राह्मण ने जवाब दिया।

"आप तो बड़ी देर तक पूजा करते हैं," सन्त ने अगला प्रश्न किया।

"हाँ, पूजा कोई मामूली चीज थोड़े ही है," ब्राह्मण बोला।

"क्या मुझे भी पूजा करने के लिए अपना एक ठाकुरजी देंगे?"—धन्ना ने पूछा।

"ठाकुरजी इतने सस्ते नहीं कि जो भी माँगे, उसे बाँटता फिरूँ!"

"आप जो भी कीमत माँगें, मैं देने को तैयार हूँ।"

"ठाकुर की कीमत है—एक दुधारू गाय। यदि तुम दे सको, तो मैं भी तुम्हें एक ठाकुर दूँगा।"

सन्त तुरन्त घर गये और अपनी एक दुधारू गाय लेकर आये। त्रिलोचन ने सोचा कि इस मूर्ख जाट को क्या मालूम कि ठाकुर क्या होता है। उसने दो सेर का

एक बाट उसे दे दिया और बोला, "यह ले ठाकुर, मगर इसकी रोज अच्छी पूजा करना ।" उसे धन्यवाद देकर धन्ना घर लौट आये ।

एक दिन धन्ना फिर उस ब्राह्मण के घर गये । वह उस समय भी पूजा कर रहा था । वे सीधे वहीं पहुँच गये । उस समय ब्राह्मण पूजा का प्रसाद खा रहा था । यह देख धन्ना बोले, "ठाकुरजी का प्रसाद तो आप ही खा रहे हैं !"

"क्या मतलब ?" ब्राह्मण ने पूछा ।

"मेरे ठाकुरजी तो खुद ही प्रसाद खाते हैं ।"

"क्या बकता है, जाट ! तेरा ठाकुर खुद प्रसाद खाता है ?"

"हाँ, ठीक ही तो बता रहा हूँ । मेरा ठाकुर केवल प्रसाद ही नहीं खाता, बल्कि मेरे काम में मदद भी करता है ।"

"झूठ क्यों बोलता है, रे जाट ?"

"झूठ क्यों बोलूँ । अगर यकीन न हो , तो चलिए मेरे घर और खुद ही अपनी आँखों से देख लीजिए ।"

ब्राह्मण फौरन धन्ना के साथ उनके घर आया । तब धन्ना ने कहा, "वह देखो मेरे ठाकुरजी रहँट से पानी निकाल रहे हैं ।" मगर त्रिलोचन को कुछ दिखायी नहीं दिया । उसने सोचा कि यह मूर्ख जाट फिर झूठ बोल रहा है । मगर जब उसने देखा कि रहँट आप ही आप हिल रहा है और उससे पानी नीचे डाला गया है, तो वह हक्का-बक्का रह गया । तब धन्ना ने कहा, "अन्दर चलिए, आपको ठाकुरजी के दर्शन कराऊँ ।"

त्रिलोचन जब अन्दर गया, तो उसे एक पाटी पर

उसके द्वारा दिया हुआ दो सेर का बाट दिखायी दिया, जिस पर फूल चढ़े हुए थे और पास ही अगरबत्ती तथा दिया जल रहा था।

ब्राह्मण सोचने लगा कि ऐसा कैसे हो सकता है कि भगवान् इसे दर्शन देकर इसकी मदद करते हैं। वह धन्ना से बोला, "मगर ठाकुरजी तो मुझे दिखायी नहीं दिये।"

धन्ना ने कहा, "जब तक आपमें दोष और बुराइयाँ होंगी, आपको उनके दर्शन नहीं होंगे। अपने मन के विकारों को दूर कर हृदय को शुद्ध रखना होगा और शुद्ध अन्तःकरण तथा सच्ची लगन से उनकी प्रार्थना करनी होगी, तभी वे दर्शन देंगे। जिसका मन विकाररहित होगा, उसके सारे दाग, सारा कलुष, ईश्वर आप ही धो देते हैं और उसे फिर किसी चीज़ की कमी नहीं रहती।"

ब्राह्मण धन्ना को मूर्ख समझता था। उनके अगाध ज्ञान को देखकर वह दंग रह गया। उनके पैरों पर गिर-कर उसने क्षमा माँगी और आश्वासन दिया कि अपने आचरण में वह कभी कोई खोट आने नहीं देगा।

○

मनुष्य अल्पायु है और संसार की सब वस्तुएं वृथा तथा क्षण-भंगुर हैं; पर वे ही जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीते हैं; शेष सब तो जीवित की अपेक्षा मृत ही अधिक हैं।

—स्वामी विवेकानन्द

ठाकुर के नरेन और नरेन के ठाकुर (२)

स्वामी बुधानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी बुधानन्दजी रामकृष्ण मिशन, नयी दिल्ली के सचिव थे। उनका प्रस्तुत लेख मूल बँगला में सर्वप्रथम 'उद्‌बोधन' मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। लेख की लोकप्रियता देख उसे बाद में पुस्तकाकार में भी प्रकाशित किया गया। इसकी पहली किस्त 'विवेक-ज्योति' के पिछले अंक में आ चुकी है। यह लेख की दूसरी किस्त है। हिन्दी रूपान्तरकार हैं बेलुड़ मठ के स्वामी सत्यरूपानन्द। ——स०)

(तीन)

नरेन्द्र-साधना में लीन ठाकुर ने दोनों धर्मों का पालन किया——नव युगधर्म का भी तथा शाश्वत सनातन धर्म का भी। आगा-पीछा छोड़कर सार कैसे ग्रहण करना, काई हटाकर सच्चिदानन्द-जल कैसे लेना——यह सब उन्होंने नरेन्द्र को सिखाया।

'मैं कह रहा हूँ इसलिए तुम यह मान लो'——यह बात ठाकुर ने कभी किसी से नहीं कही। उनकी अनुभूति को ठीक से ठोंक-बजा लेने के लिए उन्होंने नरेन्द्र को उत्साहित किया। जब हम ठाकुर का छायाचित्र देखते हैं, तो यही लगता है कि वे दीन-दुनिया को बिसरा देनेवाले व्यक्ति हैं। तब ऐसा नहीं लगता कि ये 'विज्ञानी' ठाकुर वैज्ञानिकों के ही धर्म-भाई हैं। उनके समान ऐसी विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि कितने लोगों की हुई है? उन्होंने बिना स्वयं देखे कुछ भी स्वीकार नहीं किया। देखने के लिए दिन पर दिन, महीने पर महीने उन्होंने पलकें नहीं झपकायीं। तभी तो अदृश्य और अज्ञात के सम्बन्ध में इतनी सशक्त और सरस बातें कह पाये। आज के वैज्ञानिक युग में धर्म को समय के साथ चलना होगा। विज्ञान के

प्रति नाक-भौंह सिकोड़ने से धर्म का प्रकाश नहीं फैलेगा। इसीलिए नरेन्द्र के सामने परीक्षा-कक्ष से त्रस्त बालक के समान बार-बार उपस्थित होने में वे कुण्ठित न हुए। हमने आज जिस स्वच्छ, सुन्दर, सबल, तनावमुक्त और सन्देह की छाया मात्र से रहित रूप में ठाकुर को पाया है, उस रूप में हम उन्हें कभी न पाते, यदि ठाकुर स्वयं नरेन्द्र की खोज-वृत्ति को जगाकर उत्साहपूर्वक उनके हाथों बार बार परीक्षित न होते। ईश्वर-प्रेम एक प्रकार से सत्य को जानने की अनुप्रेरणा का ही दूसरा नाम है। सत्यस्वरूप ठाकुर ने सत्यानुसन्धान-रूप जिस वैज्ञानिक मनीषा का नित्य परिचय दिया था, उससे नरेन्द्र का आत्मनिवेदन सहज और सम्भव हो सका था।

गिरीशबाबू कहते हैं—. . . "जब मैंने बिल्वमंगल (नाटक) लिखा, उस समय उनके (ठाकुर के) भक्तों के पूछने पर कहा था—नाटक लिखना तो कोई उनसे (श्रीरामकृष्ण से) सीखे। नरेन्द्र कहता है—विज्ञान तो कोई उनसे सीखे। और मास्टर कहते हैं—मास्टरी करना तो कोई उनसे सीखे।"[1]

---

१. मई १८९७ से अप्रैल १८९८ तक श्रीरामकृष्ण के पार्षदों और भक्तों की बैठक कलकत्ते में बलरामबाबू के घर हुआ करती थी। साधारणत: ब्रह्मानन्द महाराज इन बैठकों में सभापतित्व करते। स्वामी विवेकानन्द ने भी कुछेक बार किया था। इन बैठकों में श्रीरामकृष्ण-संस्मरण, शास्त्र-व्याख्या, प्रबन्ध-पाठ आदि हुआ करते थे। ऐसी ही चौदहवीं बैठक में २५ जुलाई १८९७ को गिरीश ने यह बात कही थी। अधिवेशन की नन्दिनी से यह बात उद्धृत की गयी है।

सत्यधर्म तो विप्लवकारी होता है, क्योंकि वह मोह के आवरण, जड़ता के आच्छादन और कुसंस्कार के कुहासे को निर्ममता के साथ विदीर्ण कर देता है। मिथ्या की दीवाल को तोड़-तोड़कर सत्यधर्म को अपनी अभिव्यक्ति करनी होती है। अवतार प्रधानत: भाव के क्षेत्र में विप्लव लाते हैं। धनी लुहारिन से प्रथम भिक्षा ग्रहण करना, चावल-केला बाँधनेवाली (अर्थकरी) विद्या को अस्वीकार करना, इस्लाम धर्म की साधना करना, सहधर्मिणी में देवी की पूजा करना तथा 'जीव शिव है' यह मंत्र प्रदान करना—युगधर्म को प्रशस्त करनेवाली ऐसी विप्लवकारी भावधारा का सहज-सरल ठाकुर के जीवन में सनातन शाश्वत भावधारा के साथ आश्चर्यकारी समन्वय हुआ है।

आधुनिक भारत में धर्म का यह जो नवीन सशक्त जागरण है, वह अनेक अंशों में उसी विप्लवी मनीषा की देन है। ठाकुर नरेन्द्र के भीतर अपनी क्रान्तिकारी मनीषा की अग्निशिखा जला गये। विवेकानन्द की धर्म-व्याख्या और प्रचार में यह जो अग्नि की दाहकता, प्राणवत्ता और नवजीवनी शक्ति निहित है, उसके मूल में यही विप्लवकारी मनीषा है। धर्म यदि क्रान्तिकारी न हो तो वह ईश्वर-प्रेम का संवाहक यंत्र नहीं हो सकता। मिथ्या के साथ समझौता करके जब धर्म अच्छे रहने-खाने की गतानुगतिक लीक पर आ खड़ा होता है, तभी धर्म की ग्लानि होती है। धर्म जब ग्लानिहीन होता है, तब उसकी स्वच्छ, सबल और मुक्त धारा समाज में सर्वोदय लाती है। ऐसा धर्म अन्नपूर्णा है, सबके लिए अन्न जुटा देता है—वह चतुर्वर्ग देनेवाला होता है। ऐसा धर्म ही

ईश्वर-प्रेम है। इसीलिए ठाकुर ने नरेन्द्र की क्रान्तिकारी चेतना को विशेष रूप से उद्‌बुद्ध किया था।

ठाकुर ने नरेन्द्र को एक और विशेष शिक्षा दी—भगवान् को तरह-तरह से प्रेम करना चाहिए। केवल एक बार देखना मात्र नहीं, बल्कि घर लाकर तरह-तरह से प्यार करना चाहिए। कारण, वे एक होने पर भी बहुत प्रकार से साध्य और प्राप्य हैं। विराट् को क्षुद्र रूप में नहीं देखना चाहिए। समुद्र को घड़े में समा गया समझना भूल है। अनुभूति की गहराई, चित्र-विचित्रता और विनिर्मुक्तता चाहिए। ठाकुर स्वयं जो अनन्तभावमय हैं उसका रहस्य और कुछ नहीं बल्कि प्रेम है। प्रेम न होने पर पूर्ण नहीं हुआ जा सकता। पूर्ण न होने पर पूर्ण को कैसे पाया जा सकता है? पूर्ण को न पाने पर अपूर्ण के दान से कोई सेवा नहीं चलती, केवल आत्मसेवा ही होती है।

नरेन्द्र-साधना में ठाकुर ने उसी का सहारा लिया जो नरेन्द्र के भीतर था। उन्होंने बाहर से कोई भाव आरोपित नहीं किया। अपने शैशव-काल से ही नरेन्द्र बहुमुखी भावों के धनी थे। वैसे ही वे हँसमुख, उदारहृदय और वार्तालाप-प्रिय थे, साथ ही वे थे सत्यान्वेषी, जिज्ञासु एवं पवित्रहृदय। देखने पर वे लापरवाह लगते, किन्तु दूसरी ओर वे थे ध्याननिष्ठ ब्रह्मचारी। उनमें किसी चीज का भय नहीं था, नितान्त साहसी थे, पर साथ ही कोमल-हृदय 'परम दयालु' भी थे। एक ओर वे तीक्ष्ण मेधासम्पन्न, युक्तिवादी और वैज्ञानिक प्रवृत्ति से युक्त खोजी थे, तो दूसरी ओर संसार-विरागी और भक्ति से ओत-प्रोत हृदयवाले थे। बहुमुखी भावों के धनी न होने पर बहुभाव-

मय धन को वे कैसे धारण करते और इस प्रकार ईश्वर-प्रेम के संवहन के यंत्रस्वरूप कैसे हो पाते ?

अवतार एक के लिए नहीं हुआ करते। अनेक के बीच प्रवाहित होना ही अवतार का विशेपत्व है। इसीलिए ठाकुर ने एक को भी लिया, और अनेक को भी। परवर्ती-काल में विवेकानन्द ने जब योग की व्याख्या की, तब ज्ञान, भक्ति, कर्म और योग की विभिन्न धाराओं में ठाकुर की इस विविधतामयी अनुभूति का सत्य ही उनकी स्वयं की अनुभूति के आलोक में अनेक के बीच वितरित हुआ था। ईश्वर-प्रेम के संवहन की यह एक श्रेष्ठ धारा है।

गले में कैंसर लेकर ठाकुर ने जो इतना शारीरिक कष्ट स्वीकार किया था, उसका एक कारण यह भी हो सकता है कि नरेन्द्र-साधना तब भी थोड़ी बाकी रही हो। ठाकुर की महासमाधि के मात्र कुछ दिन पहले नरेन्द्र को निर्विकल्प समाधि लगी थी। काली को मान लेने के बाद यह पूर्णाहुति की अवस्था थी। ठाकुर ने और देर नहीं की। अपनी समस्त अनुभूतियों का ऐश्वर्य, ज्ञान और अलौकिक शक्ति शिष्य में संचारित कर वे स्वयं फकीर हो गये। यही ठाकुर की नरेन्द्र-साधना में सिद्धि थी। उसके बाद तीन-चार दिनों से अधिक देह को नहीं रखा। प्रयोजन भी नहीं था।

(चार)

प्रथम दर्शन से लेकर काशीपुर के शेष दिनों तक ठाकुर ने नरेन्द्र की आत्मसत्ता को एक कुशल कारीगर के समान जिस प्रकार गढ़ा था, उसकी शैली की समीक्षा एक अभिनव ध्यान की वस्तु है। इस नरेन्द्र का आश्रय

करके ही तो विश्वमानव के नवक्षेत्र में लीला का प्रवाह प्रकट होनेवाला था। इसीलिए ठाकुर ने नरेन्द्र-साधना में अपनी समस्त निष्ठा का प्रयोग किया था।

अवतार का मुख्य उद्देश्य यह जो प्रेम-संवहन है, उसके कुछ व्यावहारिक पहलू हैं—विपरीत शक्तियों में से रास्ता बनाना, विजय की दुन्दुभि बजाना, अवतार की घोषणा और उसके सन्देश का प्रचार करना। ठाकुर स्वयं समस्त ऐश्वर्य संचित कर उसे बाँटने के लिए बैठे हुए थे। उनकी वेदना यह थी कि कैसे यह सबको बाँटकर निश्चिन्त हो जाऊँ।

माधना की प्रबल झंझा के आघात से उनका शरीर इतना कोमल हो गया था कि उँगली चटखाने से रक्त निकल आता। फिर भी प्राणों की तो यह साध थी कि द्वार-द्वार जाकर जीवों का दुःख दूर कर उन्हें ज्ञान दूँ, उनमें प्रेम वितरित करूँ। पर इस शरीर से वह विशाल कार्य एकदम असम्भव था। इस कारण श्रीरामकृष्ण के प्राणों में वेदना की कैसी गहरी अनुभूति थी यह सामान्य व्यक्ति के लिए सर्वथा अज्ञात है।

गिरीशबाबू ने कहा है—एक दिन परमहंसदेव के पास जाकर देखता हूँ, वे धर-धर आँसू बहा रहे हैं और कह रहे हैं, "हमारे निताई ने पैदल चलकर घर-घर प्रेम का वितरण किया था, किन्तु मैं गाड़ी के बिना चल नहीं पाता हूँ।" फिर एक बार कहा था, "मैं साबूदाना खाकर भी दूसरों का उपकार करूँगा।"[२]

२. पूर्वोक्त प्रकार की बैठक के १६ वें अधिवेशन में ८ अगस्त १८९७ को कही गयी बात। उक्त दिन की दैनन्दिनी से उद्धृत।

रसराज ठाकुर के प्राणों में जीव-कल्याण की वेदना इतनी घनीभूत थी यह न तो कोई जानता था, न समझता था। तभी तो उन्होंने हँसकर बहुत दुःख के साथ नरेन्द्र को भूत का साथी खोजने के व्यर्थ प्रयास की कहानी[3] कही थी। प्यासी मरुभूमि को देख हिमशिखर में कितनी करुणा जागती है यह कौन जानता है। जैसे ही ठाकुर ने नरेन्द्र को देखा था, उन्होंने जान लिया था कि उनकी संचित और जड़ीभूत वेदना की मुक्ति के लिए यही प्रवाह बनेगा––यही नवभगीरथ के समान शंखनाद करते हुए उनके प्रेम की गंगाधारा को दिग्दिगन्त में––देश-देशान्तर में फैला देगा। और केवल मुक्ति का संकेत देने के लिए नहीं––वह तो शास्त्रों में भी प्राप्त होता है––बल्कि इस धरा के दुःख-जर्जरित जनों के दुःख मेटने के लिए वह उनके ईश्वरीय हृदय के प्रेम की संजीवनीशक्ति को शत-सहस्र फेनिल धाराओं में प्रवाहित करेगा।

नरेन्द्र को सब देकर वे फकीर हो गये। इसका अर्थ क्या है ? यही कि वे नरेन्द्र की सत्ता में अनुस्यूत हो गये। एक समय उन्होंने नरेन्द्र से कहा था––"तू मुझे जहाँ ले ले जाएगा, मैं वहीं जाऊँगा !" फिर मुक्ति की चाभी अपनी

३. एक भूत बेचारा अकेला रहा करता। उसे एक साथी की आवश्यकता थी। उसने सुन रखा था कि अपघात से मृत्यु होने पर व्यक्ति भूत हो जाता है। अतः जब कभी कोई व्यक्ति दुर्घटना का शिकार होता, वह भूत दौड़कर वहाँ पहुँच जाता और सोचता कि अब वह व्यक्ति मरेगा और मुझे एक साथी मिल जाएगा, किन्तु प्रत्येक बार दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति बच उठता। इस प्रकार उस भूत को कोई साथी नहीं मिल पाया।

वज्रमुष्टिका में कैद कर नरेन्द्र से कहा था--"तू जा तो भला चारों दिशाओं में !"

इस प्रकार विवेकानन्द श्रीरामकृष्ण के ही नवीन आत्मप्रकाश हैं। विवेकानन्द केवल शिष्य नहीं, गुरु की अभिव्यक्ति भी हैं। श्रीरामकृष्ण ने एक समय नरेन्द्र के सम्बन्ध में कहा था, "मैं नरेन्द्र को आत्मस्वरूप देखता हूँ। मैं उसकी बात मानता हूँ।" इस सत्य के मर्म को जानकर ही गिरीशबाबू ने कहा था, "विवेकानन्द को जो रामकृष्ण से भिन्न समझता है, वह अज्ञानी है।"[४] विवेकानन्द यदि रामकृष्ण से भिन्न होते, तो उनके लिए किसी गिरि-कन्दरा में ध्यानमग्न होकर रहना ही सम्भव होता। वे रामकृष्ण से भिन्न नहीं थे इसीलिए उन्हें परिव्राजक होना पड़ा। 'वे ही सब हुए हैं' इसीलिए तो उन्होंने विवेकानन्द को ध्यान के आसन से उठाकर अपने सब होने के बीच जनारण्य में भेजा। विवेकानन्द को चलनशील बना उन्होंने अपने प्रेम-प्रवाह को ग्राम, कुटी, नगर, जनपद तथा दिग्दिगन्त में प्रवाहित किया।

दक्षिणेश्वर के आसपास जिसने जहाँ भी आन्तरिक भाव से भगवान् की आराधना की थी, ठाकुर बिन-बुलाये ही उनके पास गये थे और बिन-माँगे ही उन पर कृपा की थी। सब लोग सम्भवतः यह नहीं पहचान पाये थे कि चादर ओढ़कर यह कौन 'नया मनुष्य' आया था। पर उससे क्या, आराध्य तो देहरी पर कृपा का पात्र रखने आ ही गये थे।

फिर, सुदूर क्षेत्रों में दूसरे भी थे, जो अज्ञान और भ्रम के कारण ईश्वर को भूले हुए थे; जो जीवन के क्रूर संग्राम में फँसकर समस्त शक्ति के उस केन्द्र से कटे हुए थे;

४. ६ जन १८९७ को हुई बैठक की दैनन्दिनी से।

जो अशुद्ध थे, वासना के कीच और गर्त में पड़े हुए थे, दुराचारी थे; उनके पास भी ईश्वर के प्रेम और प्रकाश को पहुँचाना सबसे आवश्यक कार्य था। और इसीलिए श्रीरामकृष्ण ने विवेकानन्द को सजग पथचारी बनाया।

धूल-भरे पथों पर चलकर, दरिद्र जनपदों में जाकर, उन्मुक्त आकाश के नीचे, निर्जन अरण्य में भ्रमण कर धधकते विवेकानन्द ने धर्म को नये रूप में जाना और नारायण को दरिद्र के रूप में, मूर्ख के रूप में, लुच्चे के रूप में, रुग्ण के रूप में पाया। उन्हें एक नवीन पथ के आगमन की सूचना मिली। उन्होंने ध्यान में एक को ब्रह्म के रूप में पाया था, अब उसी एक को उन्होंने पुनः बहु रूपों में पाया। सर्वत्र वही एक वस्तु झिलमिला रही थी—वह एक वस्तु ही सब कुछ हुई थी। क्या उस बहुरूपधारी एक की आराधना ही मुख्य धर्म नहीं था, मुक्ति का मार्ग नहीं था? विवेकानन्द का यह भाव-प्रचार जन-जन के पास ईश्वर के प्रेम का ही सशक्त और रचनात्मक रूप से संवहन था।

(पाँच)

किसी गुफा में रहकर समाधि में मग्न रहने के नरेन्द्र के स्वप्न को तोड़कर ठाकुर ने विवेकानन्द को सारे भारत में विस्तृत कर दिया। आँखें बन्द कर आनन्दपूर्वक अपने अन्तराल में समा जाने की साधना की अपेक्षा उन्होंने खुली आँखों से सर्वत्र ब्रह्मदर्शन की साधना ही नरेन्द्र को विशेष रूप से सिखायी। उद्देश्य यही था कि जो सम्पदा ठाकुर ने सँजोकर रखी थी, वह जैसे भी हो सबके पास पहुँच जाए। इसीलिए ब्रह्मज्ञानी विवेकानन्द को शान्तिपूर्वक निस्पन्द होने न दे उन्होंने उनके हृदय में प्रेम की अग्नि प्रज्वलित

कर दी। असाधारण को साधारण के पैरों पर डाल दिया, पूज्य को पुजारी कर दिया, सम्राट् को भिखारी बना दिया।

ठाकुर ने कहा है––'ब्रह्मज्ञान को आँचल में बाँधकर जो इच्छा हो सो करो।' तब तो तुम जहाँ भी जाओगे, जो भी करोगे, सब दूसरों के कल्याण के लिए होगा। और यह उन्होंने नरेन्द्र के द्वारा करवा लिया––उनमें लोकसंग्रह की ज्वाला धधकाकर उन्हें पागल-सा बना दिया। यदि ऐसा न होता, तो ब्रह्मज्ञ पुरुष इतने सहज भाव से लोगों के घर-घर में, सभा-समितियों में, जनसाधारण के घर-बाहर की समस्याओं के विवेचन में, उनकी ऐहिक उन्नति की चिन्ता में भला क्यों व्यस्त होता? क्या यही 'जो इच्छा हो वह करा लेना' नहीं है?

विवेकानन्द का समाजदर्शन ब्रह्मज्ञान का ही सामाजिक रूप है। उसमें राजनीति नहीं, अर्थनीति नहीं, है केवल हृदयनीति, धर्मनीति, आत्मनीति और मोक्षनीति। ईश्वर के प्रेम-संवहन की यह भी एक भंगिमा है। यही ठाकुर की आधुनिकता है––शुष्क साधु न होना है, रस में सराबोर होना है।

विवेकानन्द के समाजदर्शन में व्यष्टि-समष्टि सबकी समस्याओं के समाधान की नींव जीव के शिवत्व पर रखी गयी है। इसीलिए वे वन के वेदान्त को स्वच्छतोया अलकनन्दा के समान लोगों के घर ले आये। पूर्वपक्ष-सिद्धान्तपक्ष, मूलाधार-तुलाधार की प्राणान्तक जटिलता से उबारकर उन्होंने वेदान्त को सुस्वादु संजीवनी की मुक्त अमृतधारा में परिणत कर दिया।

सब शक्ति तुममें ही है। उसी शक्ति में सब समाधान है और वह शक्ति तुम्हारी अपनी है। ब्रह्माण्ड के चूर-चूर

हो जाने पर भी वह शक्ति तुमसे कोई छीन नहीं सकता, क्योंकि शक्ति की लीला से ही यह ब्रह्माण्ड जुड़ता है। क्यों रो रहे हो? आँखें खोलकर देखो। उठकर खड़े हो जाओ! गगनभेदी वज्रघोष से बोलो——उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत! उठो, जागो, चरैवेति। क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ, नैतत्त्वयि उपपद्यते। क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप। क्या यह तुम्हें शोभा देता है? सर्वशक्तिधर होकर ऐसी कायरता? इस दुर्बलता के पाखण्ड को दूर फेंक दो! हे वीर, शत्रुजयी होओ! बाहर और भीतर के शत्रुओं को जीत लो। निर्गच्छन्ति जगज्जालात् पिंजरादिव केसरी——सिंह के समान पिंजरा तोड़कर महारण्य में निकल पड़ो। सबके हृदय में मुक्ति का यह आह्वान जगा देने से बढ़कर भगवत्-प्रेम का और कोई प्रकाश हो ही नहीं सकता। इसीलिए विवेकानन्द ने ईश्वर-प्रेम की इस उत्कृष्ट धारा को वेदान्त के प्राणवन्त सन्देश के रूप में व्यष्टि और समष्टि के बीच प्रचारित किया।

और वह सन्देश भी कैसा था! हरि महाराज[५] कहा करते——स्वामीजी की वाणी सुनकर मानो मरा आदमी उठ बैठता। उनकी वाणी में वैसी संजीवनी थी। क्या ऐसा भी कोई मनुष्य है, जिसने विवेकानन्द की वाणी सुनकर अपनी देह, मन और आत्मा में एक नयी शक्ति के प्रवाह की प्रबलता का अनुभव न किया हो? भारत के आधुनिक इतिहास में विवेकानन्द की वाणी ही शक्ति का उत्कृष्ट प्रमाण है! उनकी वाणी में इतनी शक्ति कहाँ से आयी? ——वह जो ठाकुर उन्हें सब कुछ देकर फकीर हो गये थे उसी सत्य से। विवेकानन्द की वाणी रामकृष्ण का ही

५. स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई स्वामी तुरीयानन्द।

फिर से आविर्भाव है। वह शब्द-शक्ति के रूप में लोगों के प्राणों में प्रवेश करती है और मनुष्य के लिए ईश्वर के प्रेम की चतुराई को अभिव्यक्त करती है।

पृथ्वी का समस्त ऐश्वर्य भी यदि एक व्यक्ति के पास होता, तो भी उसके अभाव और वासनाएँ पूरी तरह नहीं मिट पातीं। पुराणों में ययाति की साक्ष्य है। किन्तु मनुष्य के देह-मन की आड़ में जो छुपा हुआ है, यदि उसे जगा दिया जाय, तो फिर उसके लिए कुछ भी अप्रा प्यनहीं रह जाता। सब समस्याओं का समाधान इतना सहज है, परन्तु कितना जटिल कर रखा है हमने! तभी तो भारत का शाश्वत सन्देश साम्राज्य-लाभ का नहीं स्वाराज्य-लाभ का है। जो स्वाराज्य-लाभ का पथ दिखला देते हैं, वे सामान्य दाता से अधिक उपकार करनेवाले हैं। विवेकानन्द के माध्यम से रामकृष्ण ने उसी लाभ का कौशल घर-घर पहुँचा दिया है। तुम्हारे प्राणों के द्वार पर क्या आया है, यदि एक बार आँखें उठाकर देखो तो पा जाओगे। अधि-कारवाद के कानून और धमकियों को दरकिनार कर विवेकानन्द ने समस्त शास्त्रों और वेद-वेदान्त की सार बात को रामकृष्ण के सरल उपदेशों के रूप में सभी की समझ की सीमा में पहुँचा दिया है। इसीलिए विवेकानन्द को 'परम दयालु' कहा है। आधुनिक युग में पृथ्वी के सब लोगों का इतना बड़ा उपकार और किसने किया है?

(छः)

भारत में विवेकानन्द ने भारत की समस्याओं का हल नहीं पाया यह भी उस यंत्री के प्रेम की चतुराई है। समुद्र की फेनिल तरंगों पर चलते हुए उन्होंने संकेत द्वारा आदेश दिया—केवल भारत में ही सीमित न रहो, समस्त

पृथ्वी में फैल जाओ। ईश्वर-प्रेम जाति-कुल और देश की कोख में आबद्ध होकर सड़ जाने की वस्तु नहीं है। वह तो अन्त से अनन्त में, अल्प से भूमा में, घर से संसार में, मैं से तुम में उत्तीर्ण करने की अग्निदीक्षा है।

शिकागो की धर्ममहासभा में विवेकानन्द का आविर्भाव हिन्दूधर्म के प्रतिनिधि के रूप में हुआ था। धर्मसभा की समाप्ति पर सभी सदस्य अपने-अपने देश लौट गये। आज वे सब विस्मृतप्राय हो गये हैं। किन्तु विवेकानन्द अमेरिका की मिट्टी जकड़कर प्राय: तीन वर्ष वहीं पड़े रहे। देश का जरूरी आह्वान, भारत की जनता के लिए अनुभूत वेदना का अन्तर्दाह—कुछ भी उन्हें टला नहीं पाया। भारत के लिए इस महामानव की आँखों से कितनी रातें आँसू झरते रहे हैं यह कोई नहीं जानता। स्वयं की सम्पूर्ण अतिमानवी शक्ति का प्रयोग कर वे अमेरिका के नगरों, गाँवों, गिरजाघरों, विश्वविद्यालयों, बैठकखानों और सभा-समितियों में अपने ऐश्वर्य का मुक्त-हस्त से वितरण करते रहे। पर यह बात उनके मन में कभी नहीं उठी कि मैं क्यों इन लोगों के लिए इतना खटते मर रहा हूँ! उठीं केवल 'चिर-उन्मद प्रेमपाथार' की तरंगें। मानो उसी देश में जन्म हुआ हो, मानो वे ही लोग सबसे बड़े आत्मीय हों। इस प्रकार 'वसन्तवत् लोकहितं चरन्तः' उन्होंने अपने अल्पायु जीवन का सबसे मूल्यवान् समय 'विदेश' में 'विजाति' लोगों के लिए एकदम नि:स्वार्थ भाव से दे दिया। क्यों दिया?—प्रेम के वशीभूत होकर। वे ईश-प्रेम के संवहन के यंत्र जो थे! वे गये थे हिन्दूधर्म का प्रचार कर उसके बदले भारत के भौतिक कल्याण की व्यवस्था करने। किन्तु न जाने कैसे सब हिसाब गड़बड़ा

गया। वे बेहिसाबी के यंत्र जो थे ! जब उस देश के लोगों की आँखों में झाँककर उनके अन्तःकरण में प्रविष्ट हुए, तब देखा कि उनकी चमकीली पोशाक के पीछे कितनी वेदना, कितनी कातरता, कितना सन्देह, कितना भय समाया हुआ है। और यह देख विवेकानन्द के प्राणों में प्रेम उमड़ पड़ा। यह किसका प्रेम था ? उसी फकीर का। यह विश्वमानव का महान् सौभाग्य है कि विवेकानन्द उस प्रेम को सिर्फ भारत की थाती नहीं कर गये। स्वदेश से जिन्होंने विवेकानन्द से वापस लौट आने का आग्रह किया, उन्हें स्वामीजी ने लिखा—गृहत्यागी पथिक विवेकानन्द समस्त पृथ्वी का है, किसी जातिविशेष का खरीदा गुलाम नहीं ! फिर भी विवेकानन्द भारत के प्रत्येक धूलिकण को कितने प्रेम और श्रद्धा से देखते थे यह कौन नहीं जानता? किन्तु ईश्वर-प्रेम किसी जाति की स्वार्थ सीमा में आबद्ध होने की वस्तु नहीं है। उसके प्रवाह में सर्व जीवों का कल्याण है।

अमेरिका के इतिहास में विवेकानन्द ईश्वर-प्रेम की जो धारा प्रवाहित कर गये, उस देश के मनीषियों ने आज तक उसके मूल्यांकन की चेष्टा नहीं की है। ब्रह्मस्वरूप गंगाधर वेद-वेदान्त की निर्मल धारा को स्वयं वहन कर वहाँ ले गये। वह भी ईश्वरादेश से। ऐसी सौभाग्यसूचक घटना उस जाति के इतिहास में और दूसरी नहीं है। किन्तु ईश्वर-प्रेम के मूल्यांकन की कोई प्रतीक्षा नहीं है, उसमें तो केवल कल्याण की अभिलाषा मात्र है।

इस (अमेरिकन) जाति की ऐहिक उन्नति के पीछे एक जटिल प्रश्न रह गया है—'ततः किम् ?'—उसके बाद क्या ? बहुत सुख के बीच अशान्ति भी बहुत है। प्रचण्ड

अस्त्रशक्ति के पीछे हृत्कम्पन भी प्रचण्ड है। भोग-प्राचुर्य के पीछे ज्वाला का भी प्राचुर्य है। इस जातीय समस्या के उग्र होने के पहले ही मौलिक समाधान की वाणी यहाँ आ गयी थी। इसीलिए यह जाति सौभाग्यवान् है। विवेकानन्द की वाणी का अनेकांश इस जाति को सम्बोधित करके ही कहा गया है। कारण क्या है? जहाँ भौतिक उपलब्धि सबसे अधिक है, वहीं पर पारमार्थिक मुक्ति की बात सुनाना सबसे अधिक आवश्यक होता है। इसीलिए वे वेदान्त को इस (अमेरिका) देश की आन्तरिक समस्या के प्रतिकार के रूप में रख गये। यही है ईश-प्रेम के संवहन की पाश्चात्य अभिव्यक्ति। यथासमय इस देश में आत्मज्ञों का अभ्युत्थान होगा और ये लोग होंगे इस समस्या-जटिल सभ्यता के नव-अभ्युदय के उद्गाता। जैसे भी हो, अर्ध-शताब्दी पूर्व दिये गये इस दान के विनिमय में आज भारत में इहलौकिक देन आ पहुँची है। विवेकानन्द का स्वप्न एक अंश में सफल हो रहा है। किन्तु भारत यदि इस अवसर पर उस शाश्वत साधना को भूल जाता है, तो यह विनिमय की धारा चलेगी कैसे?

लगता है नरेन्द्र के ठाकुर को न समझने पर ठाकुर के नरेन्द्र क्या हैं इसकी सम्पूर्ण धारणा नहीं हो पाती। 'मट्ठे का ही मक्खन और मक्खन का ही मट्ठा'।

दक्षिणेश्वर में तो बहुत से नामी-गरामी पण्डित-विद्वज्जनों का आना-जाना लगा रहता था, फिर भी ठाकुर ने 'भुना केला खाने के लिए नमक नहीं जुटता' ऐसे एक छोकरे को ईश्वर-प्रेम के संवहन का अपना यंत्र बनाया! ऐसा क्यों? इसको समझने का एक उपाय है—नरेन्द्र के ठाकुर। स्वयं को जिस प्रकार दिया था, ठीक उसी प्रकार

वापस पाने के लिए ही ठाकुर की नरेन्द्र-साधना है।—पा लिया था क्या? सो तो वे ही जानें! चित्र में देखने पर तो सहज आदमी लगते हैं, पर उतने सहज नहीं थे—कड़े से भी कड़े थे। बिना काम कराये किसी को छोड़ दिया हो—ऐसा तो नहीं लगता।

हमने स्वामी विवेकानन्द से श्रीरामकृष्ण को जिस प्रकार पाया है, वैसा किसी दूसरे सूत्र से पाने का उपाय ठाकुर नहीं छोड़ गये—सम्भव है जान-बूझकर ही वैसा किया हो। उदारबुद्धि विवेकानन्द ने समालोचना की चिन्ता न कर निस्संकोच घोषणा की कि श्रीरामकृष्ण अवतारवरिष्ट हैं, यद्यपि वे अपने को एकदम ऐश्वर्यहीन और धूल के समान तुच्छ मानते थे। कारण यह है कि इस अवतार का प्रेम-प्रवाह सर्वग्रासी और सर्वतोमुखी है। वे कंगाल के ठाकुर हैं, प्रेम के ठाकुर हैं, मनुष्य के पुजारी हैं। वे बहुपथचारी हैं। वे जीव के अज्ञान-अन्धकार के पास इस प्रकार आलोक ले जाते हैं, मानो अभिसार कर रहे हों—कोई उपेक्षा नहीं, विरक्ति नहीं—केवल प्रेम और अधिक प्रेम लेकर जाते हैं। यद्यपि वे पूरी तरह विरक्त थे, फिर भी मनुष्य और उसकी नियति के साथ उनके समान भला कौन जुड़ा था? उन्हें आध्यात्मिक जीवन में एक-ढर्रा पसन्द नहीं था, वे केवल 'पों'[६] लेकर नहीं रह सकते थे,

६. शहनाई बजानेवाले दो व्यक्ति होते हैं। एक व्यक्ति अपनी शहनाई मे केवल 'पों' का स्वर निकालता रहता है तथा दूसरा अपनी शहनाई के छिद्रों से विभिन्न राग-रागनियाँ बजाता है। श्रीरामकृष्णदेव इस उदाहरण के द्वारा यह बताया करते थे कि मैं 'पों' नहीं करता अर्थात् एक ही ढर्रे में नहीं चलता, बल्कि सभी तरह के भावों को स्वीकार करता हूँ।

वे तो नाना सुरों, लय और तालों के प्रेमी थे। ऐसा न हो तो सबके बीच, सबके पास ईश्वर-प्रेम पहुँचेगा कैसे ?

विवेकानन्द के ठाकुर को हमने पाया रामकृष्ण संघ में। आज भी मानो वे बैठकखाने में बैठे हुए बातचीत कर रहे हैं—आत्ममुक्ति और जगत्-कल्याण की बात समझा रहे हैं। वे कोमलवपु ढीलेढाले प्रभु नहीं हैं, वे तो व्यष्टि-समष्टि की समस्याओं से जूझनेवाली काली-कराली हैं—सेवारत संघशक्ति के रूप में अभिव्यक्त हैं। विवेकानन्द 'रामकृष्ण' नाम को ऐसी शक्ति से मण्डित कर गये हैं कि एक ओर वह अकल्याण का विनाश करता है, तो दूसरी ओर कल्याण का सम्पादन। वह ऐसा नाम हो गया है, जो शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक सहायता चाहने-वाले देश-देशान्तर के लक्ष-लक्ष लोगों के लिए दुःख-दैन्य, पीड़ा-अभाव और अज्ञान से त्राण पाने का तथा उच्चतम कल्याण सम्पादित करने के लिए आशा और प्रेरणा का केन्द्र बन गया है।

भवतारिणी ने रामकृष्ण को भावमुखी होकर रहने को कहा था। 'दास तव जनम जनम का' यह मुक्तकण्ठ से स्वीकार करके भी विवेकानन्द ने मायावती में[७] ठाकुर को उड़ा दिया। मायावती में मायाधीश को स्थान कहाँ ? हिमशिखर पर ज्ञानी विवेकानन्द ने भक्त विवेकानन्द का गला पकड़कर कठोर शब्दों में कहा—यहाँ केवल अद्वैत

७. स्वामी विवेकानन्द के निर्देशानुसार उत्तरप्रदेश के पिथौरागढ़ जिले में हिमालय में स्थापित रामकृष्ण मठ का एक आश्रम है। इसका नाम है अद्वैत आश्रम। यहाँ केवल अद्वैत की साधना का आदेश है। किसी भी प्रकार की मूर्तिपूजा वहाँ निषिद्ध है—यहाँ तक कि श्रीरामकृष्ण के चित्र की भी पूजा नहीं होती।

होगा !

फिर भी कलकत्ते के रास्ते में नाचते-नाचते विवेकानन्द ठाकुर की अस्थि को सिर पर वहन करके ले आये थे। वह भक्ति की कैसी विह्वल मूर्ति थी। जिस दिन बेलुड़ मठ की प्रतिष्ठा हुई, नीलाम्बरबाबू के बगीचे से वे आत्माराम के कलश[८] को अपने दाहिने कन्धे पर उठाकर ले आये। तब उनका ज्ञानी-भाव कहाँ था ! अपने हाथों खीर बनायी और पूजा भी हुई। शशि[९] पास में नहीं थे शायद इसीलिए इतना साहस दिखाया था !

किन्तु आलमबाजार में उन्होंने शशि से कहा था—तूने ठाकुर के पूजा की झंझट जो लगा ली, अब रोज तेरे पान, मिश्री और चने का पैसा कौन जुटाएगा ? तेरा घण्टा हिलाने का यह बढ़ता आडम्बर देख मुझे भय लगता है। शान्तस्वभाव शशि ने विश्वास का दामन पकड़ा और गुर्राते हुए बोले—तुम्हें इसमें सिर खपाने की जरूरत नहीं; जिसकी पूजा लगायी है, वही अपने भोग का पैसा जुटा लेगा !

नरेन्द्र की छाती के भीतर तब न जाने कुछ तड़प उठा था। इस शशि को लेकर बड़ी मुश्किल है, जब-तब चुभनेवाली बात कह बैठता है। जो हृदय से जुड़े बैठे हैं, उन्हें हृदय के भीतर और कितना दबाकर रखा जा सकता है ?

---

८. श्रीरामकृष्ण की अस्थि जिस कलश में रखी गयी थी, उसे आत्माराम का कलश कहा जाता है।

९. शशि—स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द का पूर्व नाम। बराहनगर में ठाकुर-पूजा का सारा भार इन्होंने अपने ऊपर लिया था।

वे तो उच्छलित आलोक के अधीश्वर हैं, गर्जन-तर्जन करके बाहर निकल ही आते हैं। विवेकानन्द ने रामकृष्ण का प्रचार नहीं किया। वे आत्म-प्रकाशित हैं। विवेकानन्द तो उस आत्म-प्रकाश के एक अंग मात्र हैं। विवेकानन्द ने वेदान्त का प्रचार किया और जनचेतना में रामकृष्ण का अनावरण किया। रामकृष्ण-प्रकाश की यह आभा भीतर खोज करनेवाले लोगों की समूची दुनिया को प्रकाशित करती है। ज्ञान की अग्नि द्वारा अज्ञान का अन्धकार झुलसा दिया गया है और सर्वत्र प्रकाश छा गया है।

ठाकुर के ये नरेन्द्र अद्भुत हैं और नरेन्द्र के ये ठाकुर भी अद्भुत हैं। एक ओर शशि के साथ घण्टा हिलाना लेकर गुत्थमगुत्थी और दूसरी ओर भूलुण्ठित होकर कहना—'तस्मात् त्वमेव शरणं मम दीनबन्धो !' एक ओर श्रीरामकृष्ण की आनुष्ठानिक पूजा के नाम पर ताने मारना और दूसरी ओर रामकृष्ण के नाम में विभोर हो 'धे धे धे लंग रंग भंग बाजे अंग संग मृदंग' कहकर नाचना ! इसी प्रकार विवेकानन्द में रामकृष्ण-छन्द प्रकाशित हुआ था।

(अगले अंक में समाप्त)

O

रामकृष्ण क्या थे ? —नर-देह में ईश्वर स्वयं।.... और विवेकानन्द क्या थे ? —शिव के नेत्र की तेजो-दीप्त दृष्टि।

—योगी अरविन्द

वर्ण-विचार

(गीताध्याय ४, श्लोक १३)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ।।१३।।

मया (मेरे द्वारा) गुणकर्मविभागशः (गुण और कर्मों के विभाग से) चातुर्वर्ण्य (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण) सृष्टं (रचे गये हैं) तस्य (उसका) कर्तारम् अपि (कर्ता होने पर भी) माम् अव्ययम् (मुझ अविनाशी को) अकर्तारं (अकर्ता) विद्धि (जान) ।

"मेरे द्वारा गुणों और कर्मों का विभाजन करते हुए ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ये चार वर्ण रचे गये हैं । यद्यपि मैं इन वर्णों का कर्ता हूँ, फिर भी मुझ अव्यय परमेश्वर को तू अकर्ता ही जान ।"

पूर्व के तीन श्लोकों में बताया गया कि कुछ लोग भगवान् को प्राप्त कर लेते हैं और कुछ अपनी-अपनी कामना के अनुसार विभिन्न फल प्राप्त करते हैं । प्रश्न उठा कि जब भगवान् को पाना ही जीवन का लक्ष्य और सबसे बड़ा लाभ है, तब लोग अलग-अलग देवी-देवताओं की उपासना में समय क्यों गँवा देते हैं ? उत्तर दिया गया कि मनुष्यों की रुचि और पात्रता भिन्न-भिन्न होती है, इसलिए सब लोग एक प्रकार का फल नहीं चाहते । अब प्रश्न उठता है कि लोगों की रुचि और पात्रता में भिन्नता का क्या कारण है ? प्रस्तुत श्लोक के द्वारा इसी प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा की गयी है । इसमें कहा गया है कि मनुष्य की बनावट एक दूसरे से भिन्न होती है और यह भिन्नता

भगवान् के द्वारा उपजायी गयी है। इसीलिए मनुष्य अलग-अलग प्रवृत्ति के कारण अलग-अलग रास्ते से चलते देखे जाते हैं। यदि ऐसा है तब तो भगवान् को विषमता उपजाने का दोष लगेगा? तो कहते हैं कि भगवान् वस्तुतः कर्ता नहीं हैं, क्योंकि वे तो अव्यय हैं, अविकारी हैं, और जो अविकारी है, वह कर्ता नहीं हुआ करता। अब इसे हम समझने की चेष्टा करेंगे।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैंने चार वर्ण बनाये। किस प्रकार बनाये?—गुणों और कर्मों का विभाजन करते हुए। तात्पर्य यह कि समूचे मानव-समाज को मोटे तौर पर चार वर्णों में बाँट दिया गया। यह मनुष्यों का एक स्थूल विभाजन है। फिर प्रत्येक वर्ण की इकाइयों के भीतर भी असमानता है। इसीलिए मनुष्यों में इतना पार्थक्य दिखायी देता है। फिर, ये चार वर्ण केवल भारतवासियों के ही लिए नहीं हैं, अपितु समूची मानवता के लिए हैं। वर्ण का सामान्य अर्थ 'जाति' लिया जाता है और हम कहते हैं कि भगवान् ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार जातियाँ बनायीं। किस आधार पर बनायीं?—गुणों और कर्मों के आधार पर। गुण से मतलब है सत्त्व, रज और तम से। ये गुण ही व्यक्ति को मानसिकता प्रदान करते हैं। और कर्म का तात्पर्य है बाहरी यानी भौतिक क्रिया। तो, गुण मानसिक क्रिया के हेतु हैं और कर्म, भौतिक क्रिया के। इन दोनों के विभाजन और परस्पर मेल से ये चार वर्ण बने हैं।

हमने गीता पर अपने २९वें प्रवचन में 'स्वधर्म-मीमांसा' पर विचार करते हुए इन वर्णों का विश्लेषण किया है। ब्राह्मणवर्ण का तात्पर्य है, जिसमें सत्त्वगुण की प्रबलता हो और रजोगुण दबा हुआ हो। क्षत्रियवर्ण में

रजोगुण की प्रबलता होती है और सत्त्वगुण दबा होता है। वैश्यवर्ण में रजोगुण के प्राधान्य के साथ तमोगुण्ण दबा रहता है और शूद्रवर्ण में तमोगुण की प्रधानता रहती है तथा रजोगुण दबा रहता है। इसी को हमने उक्त प्रवचन में गुणों के एक काल्पनिक विभाजन के द्वारा यों समझाया है—

ब्राह्मणवर्ण में—

सत्त्वगुण ५०%, रजोगुण ३०%, तमोगुण २०%,

क्षत्रियवर्ण में—

सत्त्वगुण ३०%, रजोगुण ५०%, तमोगुण २०%,

वैश्यवर्ण में—

सत्त्वगुण २०%, रजोगुण ५०%, तमोगुण ३०%,

शूद्रवर्ण में—

सत्त्वगुण २०%, रजोगुण ३०%, तमोगुण ५०%।

प्रत्येक मनुष्य में ही ये तीनों गुण होते हैं, अन्तर केवल इतना होता है कि किसी में किसी गुण की प्रधानता होती है। जैसा कि हमने पूर्व में कहा, ये गुण व्यक्ति की मानसिकता का निर्माण करते हैं। जिसमें शम, दम, तप, पवित्रता, शान्ति, ऋजुता, अध्यात्मज्ञान, विविध विषयों का ज्ञान और आस्तिक्य बुद्धि हो, उसे ब्राह्मणवर्ण का कहा जाता है। जिसमें शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागने, दान देने और शासन करने की प्रवृत्ति हो, वह क्षत्रियवर्ण का माना जाता है। जिसमें कृषि, गोरक्षा यानी पशुपालन और वाणिज्य-व्यापार के प्रति रुचि हो, उसे वैश्यवर्ण के अन्तर्गत रखा गया है, तथा जिसमें अधिक सोच-विचार करने की प्रवृत्ति न हो, जो शारीरिक श्रम और एक बँधे हुए जीवन-क्रम में अधिक रुचि रखता

हो, उसे शूद्रवर्ण का माना गया है। पर यहाँ यह बात स्पष्ट कर दें कि हर मनुष्य में ही न्यूनाधिक मात्रा में चारों वर्णों के गुण पाये जाते हैं, पर जिसमें जिस वर्ण के गुणों की प्रधानता होती है, उसे उस वर्ण का कहा जाता है।

'वर्ण' का शाब्दिक अर्थ होता है रंग। सत्त्वगुण का रंग सफेद माना जाता है, जबकि रजोगुण का लाल और तमोगुण का काला। ये गुण परस्पर के विभिन्न मात्राओं में मिश्रण से मनुष्य की विभिन्न मानसिकताओं को जन्म देते हैं। फिर, जैसा कि हमने कहा, इस मानसिकता के साथ अनुरूप क्रिया भी जुड़ी होती है। जैसे, ब्राह्मणवर्ण की मानसिकता है शम, दम, तप, पवित्रता आदि के लिए रुचि। पर केवल रुचि रहने से ब्राह्मणत्व नहीं आएगा, उस मानसिकता के अनुरूप कर्म भी उसमें दिखने चाहिए। इसी को उलटकर यों भी कह सकते हैं कि केवल ब्राह्मणवर्ण की क्रियाएँ शरीर से प्रकट करना ही ब्राह्मणत्व के लिए यथेष्ट नहीं है, बल्कि साथ में उन क्रियाओं के अनुरूप मानसिकता भी चाहिए। अन्यथा कई लोग त्रिपुण्ड-जनेऊ धारण कर, धर्मग्रन्थों का पाठ कर ब्राह्मणवर्ण की क्रियाएं तो प्रकट कर सकते हैं, पर उनकी वृत्ति यदि उन क्रियाओं के अनुकूल न हो तो कहना होगा कि उनमें ब्राह्मणत्व नहीं है। यही बात अन्य तीनों वर्णों पर भी लागू होती है। इसीलिए भगवान् कृष्ण गुण और कर्म के विभाजन पर वर्ण रचने की बात कहते हैं। हमें गुण और कर्म इन दोनों पर बल देना होगा।

भारत में यह वर्ण-व्यवस्था अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद में भी एक मंत्र इसके प्रमाण में दिया जाता है, जहाँ 'पुरुषसूक्त' के अन्तर्गत यह कहा गया है——

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ।।

—'ब्राह्मण इस विराट् पुरुष के मुख से निकला है, जबकि क्षत्रिय उसकी भुजाओं से, वैश्य जाँघों से और शूद्र पैरों से ।' अब यह मंत्र चारों वेदों में प्राप्त होता है। कुछ विद्वानों ने यह भी कहा है कि यह मंत्र मूल वेद में नहीं था, बाद में उसमें प्रक्षिप्त कर दिया गया है। पर उससे इस विवेचन में कोई अन्तर नहीं पड़ता । हमें यह मानना ही पड़ेगा कि वर्ण-व्यवस्था हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रही है। पर तब उसमें वैज्ञानिकता थी, लचीलापन था। वर्ण का आधार जन्म नहीं था, गुण और कर्म थे। गीता में वर्ण के उसी मौलिक और तात्त्विक सिद्धान्त की बात कही गयी है।

तो, वर्ण के ये दो आधार हमारे सामने आये। एक कहलाया—जन्मना वर्ण का सिद्धान्त और दूसरा कहलाया—कर्मणा वर्ण का सिद्धान्त। पहला सिद्धान्त रूढ़ है, तो दूसरा लचीला। जब वर्ण के सिद्धान्त का लचीलापन नष्ट होकर वह रूढ़ हो गया, तब से सारी खराबियाँ शुरू हो गयीं और हमारा समाज-जीवन अधोगामी बन गया। मनुष्य पर मनुष्य के अत्याचार की कहानी इस जन्मना वर्ण के सिद्धान्त की देन है, जहाँ मनुष्य एक वर्ण में पैदा होने के कारण अपने को श्रेष्ठ मानता हुआ सारे अधिकार अपने पास सुरक्षित कर लेता है और दूसरे पर निम्न वर्ण में पैदा होने की छाप लगाकर मानो उसे सतत रौंदने का अधिकार-पत्र पा लेता है। भारत में यही हुआ है। मानव-समाज की प्रवृत्ति ही ऐसी होती है। जो सबल है, वह अपने को अधिक बली बनाने की चेष्टा करता है और जो दुर्बल है, उसे और

अधिक दुर्बल बनाकर उस पर सतत हावी बने रहना चाहता है। विश्व के इतिहास में सर्वत्र, सब समय, यह क्रम चलता रहता है। राजनीति के क्षितिज पर भी ऐसे वाद आते हैं, जो दुर्बलों और सर्वहारा वर्ग की पृष्ठपोषकता का दावा करते हैं। पर उनमें भी अन्त में वर्ग और दल बन जाते हैं तथा एक वर्ग या दल दूसरे के खून का प्यासा हो जाता है। यह तथ्य मनुष्य की उस मनोवैज्ञानिक बनावट की ओर ही संकेत करता है कि मनुष्य में वर्गीकरण की भावना रूढ़ है और यह भावना धर्म, जाति, भाषा, मतवाद आदि के माध्यम से अपने को प्रकट करती है।

भारत के प्राचीन चिन्तकों को इस तथ्य का बोध था, इसीलिए उन्होंने समाज को चलाने के लिए वर्ण-व्यवस्था की रचना की तथा उसे लचीला बनाये रखने के लिए गुण और कर्म का आधार प्रदान किया। इस वर्ण-व्यवस्था की सफलता का प्रमाण-पत्र यही है कि उसके द्वारा हमारा समाज इतने सहस्र वर्षों से बचे रहने में समर्थ हुआ है, जबकि विश्व की अन्य प्राचीन जातियाँ, अपनी समाज-व्यवस्था की असफलता के कारण, नष्ट हो गयीं। अमेरिका, इँग्लैण्ड और यूरोप के बहुत से राष्ट्र तो हमारे राष्ट्र के सामने वय की दृष्टि से नितान्त बच्चे हैं, पर वहाँ की सामाजिक संरचना इतने अल्प काल में ही डाँवाँडोल हो गयी है। पहले हमारे यहाँ समाज के भीतर धर्म और जाति के आधार पर कभी झगड़े नहीं देखे गये। हमारा सिद्धान्त यह रहा कि जातिगत भेद तो रहेंगे, पर जातिगत विषमताएँ नहीं रहेंगी। पर आज हमारा समाज भी लड़खड़ा रहा है, क्योंकि ऐसा एक काल आया, जब विषमताओं की सृष्टि की गयी और विशेषाधिकार की भावना को

प्रोत्साहित किया गया। फिर भी हर काल में ऐसे मनीषी हुए, जिन्होंने इस विशेषाधिकार को मिटाने की चेष्टा की और समाज को स्वस्थ बनाने के उपाय रचे। स्मृति-काल भारत की रोगावस्था रहा है। वह एक बीमार समाज का चित्रण है। स्मृतियों के द्वारा व्यवस्था के नाम पर अव्यवस्था ही अधिक बढ़ी है। जब किसी समाज में कानून अधिक बनते हैं, तब वह उस समाज की स्वस्थता का नहीं, अस्वस्थता का द्योतक है। जब एक शक्तिशाली दल समाज के कमजोर लोगों को दबाकर रखता है, तो भले ही उस समय ऐसा लगता है जैसे उस शक्तिशाली दल का प्रभुत्व चिरकाल के लिए बना रहेगा, पर जब दबाये गये लोग आत्मचेतना से दीप्त और उद्बुद्ध हो सुगबुगाने लगते हैं, तब शक्तिशाली दल यह सोचकर कि यदि यह अधिसंख्य लोक-समाज उठ खड़ा हुआ तो हमारे स्वच्छन्द भोगों में बाधा आएगी, अधिक क्रूर हो उठता है तथा अधिक निर्ममता के साथ दबे हुए लोगों को और भी दबाता तथा रौंदता रहता है। भारत में यही हुआ है। यहाँ सवर्ण और अवर्ण का नामकरण कर सवर्ण के द्वारा अवर्ण को खूब दबाया और रौंदा गया है। उसकी परि-णति आज के सामाजिक विक्षोभ के रूप में परिलक्षित हो रही है। जब से हमने 'कर्मणा वर्ण' के बदले 'जन्मना वर्ण' पर जोर देना शुरू किया, हमारा सारा सामाजिक ढाँचा ही चरमराने लगा है।

स्मृतिग्रन्थों में सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से कुछ अच्छी बातें थीं, पर वे थीं, हैं नहीं। स्मृतियाँ आज कालबाह्य हो गयी हैं। पहले परिपाटी ऐसी थी कि पूर्ण-कुम्भ के समय समस्त आचार्यगण प्रयाग या हरिद्वार में

मिलते, समाज में प्रचलित रीति-रिवाजों की समीक्षा करते, फिर आनेवाले कुम्भ तक के लिए एक नवीन संहिता, एक नयी स्मृति का विधान कर जाते। ये कुम्भ १२ वर्ष में होते हैं, और १२ वर्ष को एक युग माना गया है। इस प्रकार ये स्मृतियाँ एक युग के लिए कार्यशील होतीं। उस युग के बाद वे कालबाह्य मानी जातीं। पर आज विडम्बना यह है कि एक ओर तो हम स्मृतियों को प्राचीन मानते हैं और दूसरी ओर उन्हें आज भी समाज में चलाने की चेष्टा करते हैं! हिन्दू समाज का यह द्वन्द्व आज उसे खाये जा रहा है। मनुस्मृति के विधान कितने भी सुन्दर क्यों न हों और वे अपने युग के समाज के लिए कितने भी उपयोगी क्यों न रहे हों, आज के समाज में उन विधानों को बिना किसी परिवर्तन के लागू करने का स्वप्न देखना उचित नहीं है।

जो मनुस्मृति के विधानों को कालबाह्य नहीं मानते, उनसे एक बात पूछी जा सकती है। मनु नियोग-प्रथा को मान्यता देते हैं। क्या आज मनुस्मृति के मानने-वाले लोग भी नियोगप्रथा के कायल हैं? यदि कोई सचाई से इसका उत्तर दे, तो वह यही कहेगा कि आज कोई भी व्यक्ति नियोगप्रथा को स्वीकार नहीं करेगा। अब मनुस्मृति के एक अंश को स्वीकार करना और दूसरे अंश को स्वीकार न करना क्या दर्शाता है?––यही कि उसके विधान अब कालबाह्य हो गये हैं।

इसी प्रकार यह वर्ण-व्यवस्था का सिद्धान्त है। महा-भारत को पढ़ने से ऐसा लगता है कि 'जन्मना वर्ण' के सिद्धान्त ने समाज को जकड़ लिया था। इसीलिए महाभारत में कई स्थानों पर उसका खण्डन कर 'कर्मणा वर्ण' के

सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। इसकी विस्तृत चर्चा हम अपने उनतीसवें प्रवचन में कर चुके हैं, जहाँ 'स्वधर्म-मीमांसा' पर विचार करते हुए हमने विविध पहलुओं का विश्लेषण किया है। विवेच्य श्लोक में भी भगवान् कृष्ण 'कर्मणा वर्ण' का ही पक्ष हमारे सामने रखते हैं। यदि वे 'जन्मना वर्ण' का पक्ष लेते, तो 'गुणकर्मविभागशः' न कहते। यहाँ पर महाभारत (वनपर्व, अध्याय ३१३) की एक बात फिर से दुहरा दें, जहाँ युधिष्ठिर यक्ष को ब्राह्मणत्व का हेतु बताते हुए कहते हैं—

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥१०८॥

—'हे यक्ष! सुनो। ब्राह्मणत्व में कुल, स्वाध्याय या शास्त्रज्ञान, ये कुछ भी कारण नहीं हैं; केवल वृत्त अर्थात् आचार ही ब्राह्मणत्व का कारण है।' इसका भी तात्पर्य यही है कि ब्राह्मणत्व में जन्म नहीं, वृत्त हेतु है। हमारे यहाँ तो यह कहने की परिपाटी है—'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते'—जन्म से व्यक्ति शूद्र ही पैदा होता है, संस्कार से वह द्विज बनता है। अतएव ब्राह्मणत्व का मार्ग सबके लिए खुला है। मनुष्य को जन्म से जाति मिलती है, वर्ण नहीं। वर्ण तो उसे अपने गुणों और कर्मों के बल पर मिलता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, कुम्हार, सुनार, लोहार, कुर्मी, मेहतर, चमार—ये सब जातियाँ हैं, पर ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व और शूद्रत्व ये वर्ण हैं। इन चारों वर्णों की व्याख्या गीता के आधार पर हम ऊपर कर ही चुके हैं। इन्हें एक दूसरी भी दृष्टि से देखा जा सकता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में एक विशेषता यह

है कि इनमें adventure का—जोखिम उठाने का भाव होता है, जबकि शूद्रवर्ण में वह नहीं होता। शूद्र कोई risk—खतरा—उठाना नहीं चाहता, वह बँधे-बँधाये काम में लगना चाहता है। मेहनतकश मजदूर की वृत्ति उसे जोखिम उठाने से रोकती है, उसमें महत्त्वाकांक्षा नहीं होती। ब्राह्मणवर्ण का व्यक्ति वह है, जो विद्या के लिए, ज्ञानप्राप्ति के लिए बड़े-से-बड़ा जोखिम उठाने को नहीं हिचकता। क्षत्रियवर्ण का वह है, जो सत्ता पाने के लिए सब कुछ बाजी पर लगा देता है। वैश्यवर्ण का उसे कहेंगे, जो धन कमाने के लिए बड़े-से-बड़ा जोखिम उठाने को तैयार रहता है। तो, ब्राह्मणत्व में विद्याप्रियता होती है, क्षत्रियत्व में अधिकार-प्रियता और वैश्यत्व में धन-प्रियता। शूद्रत्व में विद्या, अधिकार या धन किसी के लिए ऐसा आकर्षण नहीं होता कि खतरा मोल लेकर उसे पाने की चेष्टा की जाय। उसमें नियत काम करके जीवन-यापन की वृत्ति होती है। आज की सामाजिक परिस्थिति में यदि हम वर्ण-विचार करने जाएँगे, तो हमें विशेष कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। पर मोटे तौर पर यों कहा जा सकता है कि जिन्हें हम सामान्यतः चतुर्थ और तृतीय श्रेणी के कर्मचारी मानते हैं, वे शूद्रवर्ण के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। इनके अन्तर्गत शरीर-श्रम से जीविका उपार्जित करनेवाले मजदूर भी आ जाते हैं। जो द्वितीय और प्रथम श्रेणी के अधिकारी हैं, उन्हें क्षत्रियवर्ण का माना जा सकता है। व्यापार और उद्योग में लगे हुए तथा कृषि आदि के द्वारा आजीविका चलानेवाले लोग वैश्यवर्ण के माने जा सकते हैं। जो ईमानदारी और सचाई के साथ जीवन में त्याग को

स्वीकार करते हुए समाज की सेवा में अपने को खपाते हैं, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में नयी-नयी खोजों में लगे रहते हैं, उन्हें ब्राह्मणवर्ण के अन्तर्भुक्त किया जा सकता है। शिक्षकों में जिनकी शिक्षा-कार्य के प्रति निष्ठा और लगन है तथा जिनका चरित्र मानवीय गुणों से युक्त है, वे तो ब्राह्मणवर्ण में रखे जा सकते हैं, पर जो शिक्षा के क्षेत्र में लाचारी के कारण चले गये, शिक्षा जिनके लिए मात्र एक व्यवसाय है, ऐसे लोग शूद्र या वैश्य वर्ण के अन्तर्गत ही रखे जा सकेंगे। उसी प्रकार राजनीति के क्षेत्र में जो लोग कार्यरत हैं, उनमें अधिकार की भावना के साथ यदि सेवा भी जुड़ी हो, तब तो वे क्षत्रियवर्ण के अन्तर्गत आएँगे, पर जिन्होंने राजनीति को सौदेबाजी और व्यवसाय बना लिया है, वे वैश्यवर्ण के माने जाएँगे।

इस विवेचन से यह सहज ही देखा जा सकता है कि वर्ण-विचार कितना कठिन है। कारण यह है कि उसमें केवल बाहरी कर्म ही नहीं देखा जाता, पर उस कर्म के पीछे वह मानसिकता भी देखी जाती है, जिसे भगवान् कृष्ण ने 'गुण' कहकर विवेच्य श्लोक में अभिहित किया है। इस दृष्टि से विचार करने पर ब्राह्मणत्व अत्यन्त विरल ही दिखायी देता है।

इस पर कोई कह सकता है कि जब गुण-कर्म पर आधारित वर्ण-विचार बड़ा कठिन है, तब क्यों न वर्ण को जन्म पर आधारित मान लें? इससे वर्ण-विचार सहज हो जाएगा। इसका उत्तर यह है कि वर्ण को आज जन्म पर ही तो आधारित माना जाता है, पर उसके भयंकर परिणामों को देखकर ही तो मनीषीगण हमारे सामने

यह गुण-कर्म पर आधारित वर्ण-विचार रखते हैं। फिर, 'जन्मना वर्ण' मानने से यह भी मानना पड़ेगा कि मनुष्य जिस वर्ण में पैदा होगा, उसकी वृत्ति भी तदनुरूप होगी। पर व्यवहार में तो ऐसा नहीं देखा जाता। ब्राह्मण के घर पैदा हुआ व्यक्ति अति निम्न वृत्ति से युक्त देखा गया है तथा क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के घर उत्पन्न व्यक्ति ब्राह्मणत्व के संस्कारों से मण्डित दिखायी देता है। ऐसे प्रकरणों को हम अपवाद की श्रेणी में नहीं रख सकते। अपवाद उसे कहते हैं, जहाँ लीक से हटकर होने-वाली घटना विरल होती है। पर जहाँ ऐसी ही घटनाओं का बोलबाला हो जाय, वैसी दशा में उनको अपवाद के अन्तर्गत रखना हास्यास्पद होगा। आज ब्राह्मण-जाति में ब्राह्मणत्व ही अपवादस्वरूप हो गया है। उसी प्रकार जो अपने को क्षत्रिय-जाति का मानते हैं, उनमें क्षत्रियत्व के संस्कार अपवादस्वरूप हो गये हैं। आज तो सब जातियों में सब वर्णों के संस्कार दिखायी देते हैं। इसीलिए महाभारत के वनपर्व में हम युधिष्ठिर और सर्पयोनि, प्राप्त नहुष के वार्तालाप में पढ़ते हैं कि सर्प युधिष्ठिर से वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुए पूछ रहा है--"धर्मराज, ब्राह्मण किसे माना जाय ?" युधिष्ठिर उत्तर में कहते हैं, "सत्य, दान, क्षमा, शील, अनृशंसता, तप और दया--ये सब गुण जिसमें हों, वही ब्राह्मण कहा जा सकता है।" तब सर्प पुनः पूछता है, "ऐसे लक्षण तो शूद्रों में भी मिलते हैं, तो क्या जिन शूद्रों में ये लक्षण हों, उन्हें ब्राह्मण माना जा सकता है ?" युधिष्ठिर कहते हैं (१८०/२५-२६)--

शूद्रे तु यद्भवेत् लक्ष्म द्विजे तच्च न दृश्यते ।
न वै शूद्रो भवेत् शूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ।।
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ।।

——"हाँ, यदि शूद्रों में भी ये लक्षण मिलते हैं और द्विजों में यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि में यदि नहीं मिलते, तो उस शूद्र को शूद्र नहीं कहना चाहिए और न ब्राह्मण को ब्राह्मण। जहाँ ये लक्षण हों, उसे ही ब्राह्मण कहना चाहिए और जिसमें ये लक्षण न हों, उसे शूद्र कहना चाहिए।"

इस पर सर्प पुनः प्रश्न करता है——"जाति अर्थात् जन्म को वर्ण का प्रमाण क्यों नहीं मानते?" इसके उत्तर में युधिष्ठिर कहते हैं (१८०।३१)——

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते ।
संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः ।।

——"हे महासर्प ! मनुष्य समान रहने के कारण जाति अर्थात् जन्म की परीक्षा बहुत कठिन है। कौन किसकी सन्तान है, इसकी परीक्षा कैसे की जाय? जबकि दुष्ट स्त्रियाँ व्यभिचार द्वारा सब वर्णों से सन्तान उत्पन्न कर लेती हैं, इसलिए परीक्षा का मुख्य साधन आचार ही है।"

ये बातें हम पहले भी, 'स्वधर्म-मीमांसा' पर विचार करते हुए, कह चुके हैं। पर प्रसंग को देखते हुए हमने उनको दुहराना उचित समझा। इस सारे विवेचन का निष्कर्ष यही है कि वर्णों को जन्मना मानने से हम एकाधिकार और विशेषाधिकार के उस संकीर्ण दायरे में अपने को कैद कर ले रहे हैं, जिसने 'अस्पृश्य' (अछूत) जैसे शब्दों का आविष्कार किया और मनुष्य के साथ पशु से भी बदतर व्यवहार किया। हमने बड़ी

लम्बी अवधि तक यह भूल अपने हृदय में सँजोकर रखी। जब तक वह दूर नहीं होती है, हमारा यह सनातन हिन्दू समाज दृढ़ता के साथ खड़ा नहीं हो सकेगा। यह तो हम पर भगवान् की महती कृपा है कि वे हमारे राष्ट्रीय जीवन में, युग-युग में, ऐसे महापुरुषों को भेज देते हैं, जो हमारी भूल दिखाकर उसे दूर करने का उपाय प्रदर्शित करते हैं। इस युग में स्वामी विवेकानन्द आये हैं, जो भगवान् श्रीकृष्ण की वाणी को ही दुहराते हुए 'कर्मणा वर्ण' के सिद्धान्त को मुखरित करते हैं।

प्रश्न उठता है कि भगवान् ने चार वर्णों की ही बात क्यों कही ? वे यह भी तो कह सकते थे कि मैंने ३ वर्ण बनाये या ५ वर्णों की रचना की। इसके उत्तर में कहा जाता है कि प्रकृति ने भी मनुष्यों का बँटवारा चार श्रेणियों में किया है। मनुष्य के शरीर के रक्त के चार ही प्रकार होते हैं, जिसे 'ब्लड-ग्रुप' कहते हैं—AB, A, B और O। पाश्चात्य देशों में सर्वेक्षण के फलस्वरूप यह विदित होता है कि इन चारों ब्लड-ग्रूपवालों का प्रतिशत यों है—:AB—३%, B—९%, A—४२% और O—४६%। ये ही प्रतिशत, थोड़े-बहुत अन्तर से, भारतवासियों के सन्दर्भ में भी सही होंगे। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि क्या AB, B, A और O ब्लड-ग्रूपवालों को क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण का माना जा सकता है ? यह खोज का एक सुन्दर विषय हो सकता है कि इन वर्णों की जो विशेषताएँ बतायी गयी हैं, क्या वे सम्बन्धित ब्लड-ग्रूपवाले व्यक्तियों में मोटे तौर पर मिलती हैं ? क्या AB ब्लड-ग्रूपवाला व्यक्ति अधिक अन्तर्मुखी, शान्त, संयमी और विद्याव्यसनी होता है ?

क्या B ब्लड-ग्रुपवाले अधिक अधिकारप्रिय होते हैं ? क्या A ब्लड-ग्रूपवालों में व्यावसायिकता अधिक होती है ? उमी प्रकार O ब्लड-ग्रूप में क्या यथास्थितिवाद की भावना अधिक प्रबल होती है ?

कुछ लोग ब्लड-ग्रूप का उदाहरण देकर वर्ण को जातिगत यानी जन्मगत मानते हैं और यह कहते हैं कि जैसे ब्लड-ग्रूप नहीं बदल सकता, वैसे ही वर्ण भी नहीं बदल सकता । पर इस तर्क से उनकी ही बात कट जाती है । ब्राह्मणों में चारों ब्लड-ग्रूप पाये जाते हैं । ऐसे ही सभी जातियों में चारों ग्रूप मिलते हैं । अतएव 'जन्मना वर्ण' का तर्क नहीं टिकता । फिर पेशे की दृष्टि से देखें तो ब्राह्मण भी जूते की दुकान खोले बैठे हैं, वे शूद्र , वैश्य तथा क्षत्रियोचित कर्मों में लगे हुए हैं । अत: इस दृष्टि से भी गुण-कर्म-विभाग के अनुसार ही वर्ण का बँटवारा सिद्ध होता है ।

फिर कुछ लोग कहते हैं—देखो, ब्लड-ग्रूप AB के साथ AB तो मिलता ही है, पर साथ ही B, A और O ग्रूप भी मिलते हैं । उसी प्रकार B ब्लड-ग्रूप B के अलावे O के साथ मिलता है । वैसे ही A के साथ A के अलावे O भी मिलता है । परन्तु O ब्लड-ग्रूप के साथ केवल O ही मिलता है, दूसरा ब्लड-ग्रूप नहीं । यह बताकर वे लोग कहते हैं कि स्मृति की बात यहाँ पर मिल जाती है कि ब्राह्मण अपने वर्ण के अलावे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीनों वर्णों से कन्या ले सकता है; क्षत्रिय अपने वर्ण के अलावे शेष दोनों से और वैश्य अपने वर्ण के अलावे शूद्रवर्ण से कन्या ले सकता है, तथा शूद्र अपने वर्ण को छोड़ अन्य किसी वर्ण से कन्या नहीं ले सकता । ब्लड-

ग्रूप की दृष्टि से केवल क्षत्रिय के सन्दर्भ में वैश्य वर्ण की कन्या ग्रहण करने का अतिरिक्त विधान स्मृतिशास्त्रों में है, पर बाक़ी अन्य सब बातें हूबहू मिल जाती हैं।

इसके उत्तर में हम कहते हैं कि यह तर्क मननीय है और परीक्षण करने योग्य है। पर साथ ही यह भी कहते हैं कि इस तर्क को मान लेने पर ब्राह्मणवर्ण का वही व्यक्ति होगा, जिसका ब्लड-ग्रूप AB है, तथा इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण के वे लोग होंगे, जिनका ब्लड-ग्रूप क्रमश: B, A और O है। पर जैसा कि हमने कहा, सभी वर्णों में चारों ब्लड-ग्रूप मिलते हैं। अतएव यह तर्क अपनी धार से स्वयं कट जाता है।

इस समस्त विवेचन का सार यह हुआ कि वर्ण जन्मगत नहीं अपितु गुणगत, कर्मगत हैं। महाभारत में कहा गया है——

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्राह्मणा सृष्टपूर्वं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥

——'वर्णों में कोई विशेष यानी भेद नहीं है। जगत् को ब्रह्मा का बनाया हुआ होने के कारण ब्रह्म ही कहना चाहिए। भिन्न भिन्न कर्मों के कारण ही यह भिन्न भिन्न वर्णों में विभक्त हो गया।' यहाँ पर भी स्पष्ट रूप से कर्मकृत वर्ण-व्यवस्था की बात ही कही गयी है। स्वामी विवेकानन्द कहते थे कि ब्राह्मणत्व की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है। पर यह ब्राह्मणत्व जन्म से नहीं, गुणों और कर्मों से मिलता है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'इन चारों वर्णों की सृष्टि मैंने की है। भले ही मैं उनका कर्ता हूँ, पर वास्तव में मुझे अकर्ता और अव्यय समझना चाहिए।' यहाँ पर भगवान् के वचनों में विरोधाभास प्रतीत होता है, पर यदि

हम थोड़ी गहराई से देखें तो बात समझ में आ जाती है। जैसे सूर्य के प्रकाश में कोई व्यक्ति जालसाजी कर रहा है और कोई दानपत्र लिख रहा है। लिखने की शक्ति तो सूर्य के प्रकाश ने दी, इसलिए उस दृष्टि से उसे कर्ता कहा जा सकता है, पर जालसाजी का दण्ड या दानपत्र लिखने का पुरस्कार सूर्य के प्रकाश को नहीं मिलेगा, इस दृष्टि से वह अकर्ता है। वैसे ही भगवान् ने अपनी प्रकृति के द्वारा गुण और कर्म रच दिये इस दृष्टि से वे कर्ता हो गये, पर वर्णों की रचना का काम गुण और कर्म का है इस दृष्टि से भगवान् अकर्ता हो गये। जैसे राज्य ने एक संविधान बनाया और न्यायाधीश ने उस संविधान का पालन करते हुए एक हत्यारे को फाँसी की सजा सुना दी। अब न्यायाधीश फाँसी की सजा का कर्ता है या अकर्ता? एक दृष्टि से देखें तो वह कर्ता मालूम पड़ता है, पर दूसरी दृष्टि से हमें यही मानना पड़ेगा कि न्यायाधीश वास्तव में अकर्ता है, वह तो मात्र सचाई के साथ राज्य के संविधान का पालन करता है। फाँसी की सजा का कर्ता तो वह अपराधी स्वयं है। इसी प्रकार भगवान् ने गुण-कर्म बना दिये——यहाँ तक तो वे कर्ता दिखायी देते हैं। पर इन गुण-कर्मों के द्वारा जो वर्ण बनना है, वह तो व्यक्ति स्वयं बनाता है। चाहे तो वह ब्राह्मणवर्ण प्राप्त कर ले, चाहे शूद्रवर्ण, इसमें भगवान् अकर्ता हैं। वर्णों के निर्वाचन में मनुष्य ही कर्ता है। इसीलिए वर्णों के भेद-भाव का दोष भगवान् पर नहीं मढ़ा जा सकता। वे तो साक्षी हैं। अपने इस साक्षीत्व को व्यक्त करने के लिए ही भगवान् ने अपने लिए 'अव्यय' कहा। साक्षी वही हो सकता है, जिसमें कोई विकार नहीं होता।

तो, विवेचन का सार यह हुआ कि वर्ण और जाति दोनों अलग अलग हैं। मनुष्य को जाति जन्म से मिलती है, पर उसे वर्ण गुण और कर्मों के द्वारा मिलता है। वर्ण अलग अलग अवश्य हैं, पर उनमें परस्पर श्रेष्ठता और कनिष्ठता का भेद नहीं होना चाहिए। जो वेद के मंत्र का हवाला देकर कहते हैं कि विराट् पुरुष के सिर से निकलने के कारण ब्राह्मण बड़ा है और पैर से निकलने के कारण शूद्र छोटा, वे उस मंत्र की व्याख्या गलत रूप से करते हैं। वहाँ पर सिर का बड़प्पन और पैर की क्षुद्रता नहीं दिखायी गयी है, उसके द्वारा केवल इन वर्णों के विशिष्ट गुणों और कर्मों का परिचय दिया गया है। जैसे सिर में पीड़ा होने पर पैर चिकित्सक के पास दौड़े जाता है, उसी प्रकार पैर की व्यथा से सिर चिन्तित हो उसे दूर करने का उपाय सोचता है। अतएव वर्णों की भिन्नता का तात्पर्य यह नहीं लेना चाहिए कि कोई वर्ण बड़ा है और कोई छोटा। चारों वर्ण समाज में समान महत्त्व रखते हैं और सबको उन्नति के लिए समान अवसर प्राप्त होने चाहिए। चारों के स्वस्थ मेल से ही समाज की सर्वांगीण उन्नति सम्भव है।

हमारी वर्ण-व्यवस्था का यही सही स्वरूप है।

○

पैसे वालों की पूजा का प्रवेश होते ही धार्मिक सम्प्रदाय का पतन आरम्भ हो जाता है।

—स्वामी विवेकानन्द

भगवत्-प्राप्ति

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(स्वामी वीरेश्वरानन्दजी रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष हैं। उन्होंने समय समय पर साधकों को जो उपदेश दिये, उनमें से कुछ को संकलित कर 'प्रबुद्ध भारत' अँगरेजी मासिक के मार्च १९६९ अंक में छापा गया था। प्रस्तुत लेख उसी का अनुवाद है, जो रामकृष्ण मठ, नागपुर के ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य द्वारा किया गया है।—स०)

शास्त्र हमें सलाह देते हैं कि हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं, हमारे लिए क्या कल्याणकारी है और क्या अहितकर। ईश्वर-दर्शन ही हमारे लिए सर्वाधिक कल्याणकारी है, जो हमें सभी सांसारिक दुःख-कष्टों के परे ले जाता है। ईश्वरोपलब्धि के लिए शास्त्र हमें कुछ कार्य करने का निर्देश देते हैं, और कुछ अन्य कार्यों का निषेध करते हैं। जिन कर्मों को शास्त्रों ने मना किया है, वे 'निषिद्ध कर्म' कहे जाते हैं। नैतिकता की दृष्टि से ये अनुचित कर्म हैं। फिर भी शास्त्र हमें कुछ ऐसे कर्मों की अनुमति प्रदान करते हैं, जो भले ही फल-प्राप्ति की इच्छा से सम्पन्न किये जाते हैं तथापि सत्कर्म हैं, जैसे—इस लोक या परलोक में सुख-प्राप्ति की इच्छा से किये गये कर्म। उन लोगों को, जिनके मन में कुछ कामनाएँ हैं, थोड़ा सा सुख भोगना ही चाहिए, जिससे वास्तविक रूप से ईश्वरोपलब्धि के पथ पर बढ़ने के पूर्व उनकी इच्छाएँ शमित हो जाएँ। इसका कारण यह है कि भगवत्-प्राप्ति के पूर्व साधक को निष्कामता की उपलब्धि करनी होगी। अतः इन कामनाओं की पूर्ति के लिए शास्त्र हमें यज्ञ करने का निर्देश देते हैं। ऐसे कर्म, फलों की इच्छा से किये जाने के बावजूद, अन्ततोगत्वा कर्ता को निष्का-

मता की ओर ले जाते हैं। परन्तु जो कार्य शास्त्रों द्वारा निषिद्ध हैं, वे कभी भी हितकर नहीं हैं। अतः मनुष्य को कभी भी उत्कट कामनाओं से प्रेरित हो इन निषिद्ध कर्मों को करने में अग्रसर नहीं होना चाहिए।

प्रश्न उठता है कि फलों की कामना से किये हुए यज्ञ हमें किस प्रकार कामनाहीनता की ओर ले जाते हैं? सभी सकाम यज्ञों में यजमान देवता के निमित्त कुछ अर्पित करता है, जिसके बदले वे उसे उसका इच्छित फल प्रदान करते हैं। इस प्रकार मनुष्य कामनाहीनता के मार्ग में पहला कदम रखता है। इन यज्ञों के माध्यम से भी वह त्याग और निःस्वार्थता सीखता है।

जब एक व्यक्ति बिना फल की आकांक्षा के ही कर्म करना सीख लेता है, तो उसका मन पवित्र हो जाता है और उसे विवेक या विचार की प्राप्ति होती है। तब उसे यह ज्ञान होता है कि यह जगत् मिथ्या है और एकमात्र ईश्वर ही सत्य हैं। यह ज्ञान उसे ईश्वरोपलब्धि के लिए संघर्ष करने को प्रेरित करता है। जब वह इस स्थिति तक पहुँच जाता है, तो शास्त्र उसके लिए दो मार्गों का निर्देश करते हैं---ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग। ज्ञानमार्गी साधक को यह विचार करना पड़ता है कि वह न तो शरीर है, न इन्द्रियाँ, न मन, वरन् वह शुद्ध आत्मा है। केवल अज्ञानवश ही हम अपने आपको शरीर, मन या और कुछ समझते हैं। हमारी आत्मा अज्ञान के परदे से ढकी हुई है और इसी वजह से हम चीजों को गलत रूप में देखते हैं। इस प्रकार विचार की सहायता से सभी अनात्म वस्तुओं को नकारते हुए अन्त में हम आत्मा का साक्षात्कार करते हैं। साधारण लोगों के लिए इस पथ पर

चलना निःसन्देह कठिन है। इसीलिए शास्त्र एक और सरलतर मार्ग का उपदेश देते हैं, जिसे भक्तिमार्ग कहते हैं। इसमें जिन उपायों का निर्देश किया गया है, उनमें एक है भगवन्नाम का जप। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भगवान् और उनका नाम अभिन्न हैं। अतः उनके नाम का निरन्तर जप करके उनका दर्शन प्राप्त किया जा सकता है।

साधक को सारे दिन, अपने समस्त क्रियाकलापों के बीच भी, सर्वदा उनका नाम जपने का प्रयास करना चाहिए। यह असम्भव-सा लग सकता है, पर स्वयं भगवान् ने यही उपाय अर्जुन के लिए नियत किया था। वे कहते हैं—"तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च"—इसलिए तू हर समय मेरा स्मरण कर और युद्ध कर। यदि पाण्डव-सेना के सेनापति अर्जुन के लिए रणभूमि में इतनी जिम्मेदारियों के बीच यह करना सम्भव था, तो फिर हमारा कार्य तो अर्जुन की तुलना में आसान है। क्या हम अपने दैनन्दिन कार्यों के बीच उनका स्मरण और उनके नाम का जप नहीं कर सकते? हम बहुधा सोचते हैं कि हमें साधना के लिए समय नहीं मिलता और इसलिए ऐसी योजनाएँ बनाते हैं कि काम-काज और चिन्ताओं से मुक्त होने पर साधना करेंगे। पर ऐसा सोचना गलत है, क्योंकि ऐसा कोई भी समय न होगा, जब हम कर्मरहित होंगे। यदि एक व्यक्ति समुद्र में स्नान करने की इच्छा से जाए और तट पर बैठकर सोचे कि समुद्र की लहरें थम जाने पर डुबकी लगाऊँगा, तो वह व्यक्ति कभी भी स्नान न कर सकेगा, क्योंकि लहरें कभी भी शान्त न होंगी। उसे लहरों के बीच ही डुबकी लगानी होगी। ठीक उसी प्रकार हमें अपने कार्यों के

बीच ही भगवान् का नाम लेना होगा ।

आध्यात्मिक जीवन में एक बात बहुत ही महत्त्व-पूर्ण और सदा स्मरण रखने की है; वह यह कि हम चाहे जितना भी जप-तप क्यों न करें, इसकी कोई गारण्टी नहीं कि हम ईश्वर का दर्शन पाएँगे ही । यह पूर्णतया उनकी कृपा पर ही निर्भर करता है और कृपा में कोई शर्त नहीं है । परन्तु उनकी कृपा उन पर नहीं होगी, जो प्रयास ही नहीं करते । हमें जितना भी हो सके अधिक से अधिक प्रयास करना होगा, तभी हमें उनकी कृपा प्राप्त करने की एक सम्भावना होगी ।

यदि हमें शीघ्रतापूर्वक तथा आसानी से फल प्राप्त न हो, तो केवल इसी कारण से हमें साधना से निवृत्त नहीं होना चाहिए । भगवान् श्रीरामकृष्णदेव ने पीलिया के रोगी का उदाहरण दिया है । मिश्री यद्यपि पीलिया की औषध है, तथापि प्रारम्भ में इसका स्वाद कड़वा लगता है । परन्तु जैसे जैसे रोगी इसे लेने लगता है, धीरे धीरे इसका स्वाद मीठा लगना शुरू हो जाता है और रोग भी दूर हो जाता है । ठीक इसी प्रकार भवरोगरूपी पीलिया के लिए भगवन्नाम ही औषध है। प्रारम्भ में इसका स्वाद कड़वा लगता है, परन्तु यदि हम साधना में डटे रहें, तो धीरे धीरे यह संसाररूपी पीलिया दूर हो जाता है और नाम भी मीठा लगने लगता है । इसलिए साधक को ईश्वर के नाम का जप करना चाहिए, भले ही शुरू में उसमें आनन्द न मिले । धीरे धीरे उसे नाम की शक्ति के प्रकट होने का अनुभव होगा और उसे भगवान् की प्राप्ति होगी । वह जितना ही जप करेगा, उतना ही आनन्द पाएगा । इसीलिए कहा है—"जपात् सिद्धिः"—जप के द्वारा

भगवान्-लाभ होता है ।

ईश्वरोपलब्धि के लिए ध्यान भी एक आवश्यक साधन है । एक पात्र से दूसरे पात्र में ढालते समय तेल की धारा जैसे अटूट गिरती है, उसी प्रकार निरन्तर ध्यान करना चाहिए । इसका मतलब यह नहीं कि साधक को संसार से दूर कहीं नीरव स्थान में जाना होगा । इसी कारण स्वामी विवेकानन्द ने इस ध्यान को एक विशेष भाव के साथ किये जानेवाले कर्म से जोड़ दिया है । सभी के भीतर ईश्वर को देखते हुए यदि हम उनकी सेवा करें, तो वह कर्म पूजा या उपासना हो जाता है और हमारे क्रियाकलापों के बीच भी ध्यान की तारतम्यता को बनाये रखने में सहायक होता है ।

यदि हम भगवत्-प्राप्ति का अनन्त सुख और चरम आनन्द पाना चाहते हैं, तो हमें इस जगत् के सीमाबद्ध और क्षणभंगुर सुखों का परित्याग करना होगा, और साथ ही शास्त्र एवं आचार्यों के निर्देशानुसार कठिन साधना भी करनी होगी ।

O

रामकृष्ण परमहंस के जीवन की कहानी जीवन में धर्म के व्यवहार की कहानी है । उनका जीवन हमें ईश्वर को आमने-सामने देखने में समर्थ बनाता है । . . .

— **महात्मा गाँधी**

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें:—
मृडाणी चट्टोपाध्याय

स्वामी प्रभानन्द

('श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें' इस धारावाहिक लेखमाला के लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ के संन्यासी हैं। उन्होंने ऐसी मुलाकातों का वर्णन प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर किया है। उन्होंने यह लेखमाला रामकृष्ण संघ के अँगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार की थी, जिसके अप्रैल, १९७९ अंक से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। —स०)

मृडाणी पार्वतीचरण चट्टोपाध्याय की चतुर्थ सन्तान थीं। उनकी माता गिरिबाला देवी ने बँगला गीतों और संस्कृत श्लोकों की रचना करके, जिनमें से कुछ छपे भी थे, अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया था। उन्हें फारसी तथा अँगरेजी का भी कुछ ज्ञान था तथा वे अपनी धार्मिक अभिरुचि तथा निष्ठा के लिए प्रसिद्ध थीं।

बंगाल के हावड़ा जिले के शिवपुर स्थान में १८५७ में जन्मी मृडाणी का लालन-पालन भवानीपुर, कलकत्ता में अपनी दादी के यहाँ परम्परागत हिन्दू धार्मिक परिवार में हुआ था। बचपन में प्रार्थना-पूजा तथा कठोरता आदि में उसके विशेष लगाव को देख परिवार के अन्य सदस्यों का ध्यान स्वाभाविक रूप से उसकी ओर आकर्षित हुआ था। बच्ची मृडाणी पर उसकी माता तथा दादी के धार्मिक स्वभाव ने निश्चय ही बहुत अधिक प्रभाव डाला होगा। उस कम उम्र में ही एक प्रबल धार्मिक लगन उसके हृदय में जाग उठी थी, जो जीवनपर्यन्त उसके भीतर बनी रही और उसका मार्गदर्शन करती रही। बचपन से

ही उसमें खाने-पहिनने और श्रृंगार करने आदि के प्रति उदासीनता थी। बचपन से वह शाकाहारी थी। मृडाणी को दक्षिणी कलकत्ता के बिशप रावर्ट मिलमैन द्वारा स्थापित विद्यालय में भरती किया गया, पर वह ज्यादा दिन वहाँ नहीं पढ़ सकी, क्योंकि वहाँ विद्यालय में हिन्दू मान्यताओं के प्रति ईसाई शिक्षकों का विपरीत प्रचार उसे अच्छा नहीं लगता था। उसे बहुत से संस्कृत श्लोक तथा गीता, चण्डी एवं महाभारत के अनेक चुने हुए अंश मुखस्थ हो गये थे। कैशोर्य में प्रवेश करते ही उसके भीतर संसार के प्रति विरक्ति और आध्यात्मिक जीवन के प्रति चाह प्रबल हो उठी।

दस वर्ष की अवस्था में एक सरल से दीखते ब्राह्मण से उसकी अनायास भेंट हो गयी। उसने 'तुम्हें कृष्ण-भक्ति प्राप्त हो' कहकर उसे आशीर्वाद दिया। कुछ दिनों बाद उसकी भेंट फिर उस व्यक्ति से दक्षिणेश्वर के निकट एक बगीचे में हुई, जहाँ उसने उसे पवित्र मंत्र देकर दीक्षित कर दिया। इस घटना ने लड़की के हृदय में एक नयी ज्योति जला दी। परवर्ती जीवन में, उसे यही विश्वास था कि श्रीरामकृष्ण ही उसे उस सरल ब्राह्मण के रूप में मिले थे। यह भी आश्चर्य की बात थी कि कुछ दिन बाद उसके परिवार में ठहरी वृन्दावन की एक साधिका ने उसे राधा-दामोदर की शालग्राम मूर्ति भेंट में दी। मृडाणी जीवनपर्यन्त उस शालग्राम की पूजा करती रही और उसमें उसे अपने प्रेम और पूजा के आधार भगवान् की उपस्थिति का भान होता रहा। इसके बाद से उसने अपने को सांसारिक व्यापार से अलग कर लिया तथा पूजा और ध्यान में अपने दिन

बिताने लगी। लड़की की बढ़ती हुई आध्यात्मिक रुचि और संसार के प्रति उदासीनता को देख उसकी विधवा माँ और अन्य रिश्तेदार चिन्तित हो उठे। तेरह साल की छोटी अवस्था में ही उसमें अपनी माता वगैरह से यह कहने का साहस हो उठा था कि 'मैं उसी दूल्हे से शादी करूँगी जो कभी न मरे।' उसने श्रीकृष्ण को अपने अलौकिक, अमर दूल्हे के रूप में पहले से चुन लिया था। छोटी बच्ची की जिद देख परिवार के मुखिया लोगों को अचरज तो हुआ, पर उसकी आध्यात्मिकता की गहराई को न समझ सकने के कारण उन लोगों ने जबरदस्ती उसकी शादी कर देनी चाही। घर से कहीं वह भाग न जाय इस भय से उन्होंने उसे ब्याह के एक दिन पूर्व कमरे में बन्द कर दिया, पर वह किसी प्रकार रात में निकल भागी। किन्तु उसे खोज लिया गया तथा घर वापस लाया गया। माता को छोड़ सभी ने उसे विवाह करने के लिए बाध्य किया। पर मृडाणी अपनी उम्र के लिहाज से पर्याप्त दृढ़ता के साथ अपनी बात पर अड़ी रही। परिवारवालों ने अन्त में उसे उसकी इच्छा पर छोड़ दिया।[१]

एकमात्र भगवान् के लिए सब कुछ समर्पण कर देने की प्रबल इच्छा के कारण उसे क्षणिक सुख की सब इच्छाओं को त्याग देना पड़ा, और वह बेचैन हो उठी। मृडाणी को सन्तोष देने की दृष्टि से उसके रिश्तेदार उसे कुछ तीर्थों में लम्बे या थोड़े समय के लिए भेजने को राजी हो गये। साधु-जीवन बिताने की प्रेरणा से एक

१. स्वामी विवेकानन्द ने एक बार व्यक्त किया था, "वह बहुत पवित्र है, बचपन से ही शुद्ध है--मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।"

बार वह गंगासागर की यात्रा में अपने साथियों से चुपचाप अलग हो गयी। अठारह साल की युवती मृडाणी हरिद्वार जानेवाली उत्तर भारत के संन्यासी और संन्यासिनियों की टोली में मिल गयी। वह संन्यासियों और संन्यासिनियों के अलग अलग दल के साथ तब तक घूमती रही, जब तक उसने अकेले ही सब प्रकार के खतरे और कठिनाइयों को झेलते हुए घूमने का निश्चय नहीं बना लिया। गले से लटकी झोली में रखे दामोदर-शालग्राम ही उसके एकमात्र साथी और रक्षक थे। कुछ धार्मिक ग्रन्थ, चैतन्य महाप्रभु तथा काली के चित्र और कुछ रोजमर्रे के उपयोग की वस्तुएँ ही उसका कुल सामान थीं। उत्तर में कैलास-अमरनाथ से लेकर दक्षिण में रामेश्वर-कन्याकुमारी तक तथा पश्चिम में द्वारका से लेकर पूर्व में कामाख्या तक के तीर्थों के भ्रमण से उसकी दृढ़ तथा निर्भीक आत्मा और अधिक शक्तिसम्पन्न ही हुई थी। अपनी यात्राओं के प्रथम दौर में वह नवद्वीप गयी थी, जहाँ एक वैष्णव गुरु से दीक्षित हो उसने गौरदासी[२] का नाम पाया था। पहाड़ों और घाटियों, शहरों और गाँवों में भ्रमण करने के दौरान कभी तो वह अपने शरीर पर गेरुआ धारण करके रहती, कभी उस पर राख या मिट्टी-चुपड़ लेती, और कभी पुरुषों की तरह लम्बा चोगा तथा पगड़ी पहने रहती। उसने अपने केश काटकर छोटे कर लिये थे। कभी कभी उसे पागलों-जैसा अभिनय भी करना पड़ता। इस प्रकार

२. देखें रामचन्द्र दत्त लिखित 'श्री श्री रामकृष्ण परमहंसदेवेर जीवन-वृत्तान्त' (बँगला), (काँकुड़गाछी, कलकत्ता : योगोद्यान, बंगाब्द १३१०), पृ. १२६। इसके उपरान्त 'जीवनवृत्तान्त' ही कहेंगे।

उसने सात वर्ष अपने दिन तपस्या और तीर्थ-भ्रमण में बिताये । इस बीच उसे अत्यन्त कठिन परिस्थितियों और परीक्षा की घड़ियों में से गुजरना पड़ा । ऐसी दशा में एक सामान्य नारी अपना सन्तुलन ही खो बैठती, पर उसने बड़ी मजबूती के साथ अपने आदर्श को पकड़ रखा था । परवर्तीकाल में एक साहसी युवक, जो स्वयं इन कष्टप्रद तीर्थों का भ्रमण कर चुका था, ने उससे पूछा था, "क्या सचमुच आपने इनकी यात्राएँ की थीं ?" उसने भी हँसकर उत्तर दिया था, "क्यों, मैं तुम-जैसे साहसी बेटों की माँ जो हूँ !"[३]

उसकी इन लम्बी यात्राओं के समय गाँव के सरल लोग उसे गौरमयी या गोरी-माँ कहकर पुकारते, जो बाद में गौर-माँ या गौरी-माँ बन गया । बाद में श्रीरामकृष्णदेव और माँ सारदा उसे सिर्फ गौरदासी कहा करते । इन विभिन्न कष्टप्रद यात्राओं से उसे तरह-तरह के लोगों को समझने में बहुत सहायता मिली । पर सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष था उसका विभिन्न तीर्थों में आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्राप्त करना, जो उसे विशेष रूप से द्वारका में मिली थीं ।

पुरी में हरेकृष्ण मुखर्जी नामक एक वृद्ध सज्जन ने मृडाणी को बतलाया था, "बेटी, मैंने दक्षिणेश्वर में एक विलक्षण आभायुक्त मनुष्य को देखा है, जिसे प्रायः ही भाव-समाधि हुआ करती है । ईश्वरीय ज्ञान से पूर्ण हो वह दिव्य प्रेम बाँटता है ।" कलकत्ता लौटने पर मृडाणी बागबाजार में बलराम बोस के घर रुकी । बलराम मृडाणी के बड़े भाई अविनाशचन्द्र के मित्र थे इसलिए

---

३. महेन्द्रनाथ दत्त : 'मातृद्वय' (बँगला), (कलकत्ता महेन्द्र पब्लिशिंग समिति) ।

मृडाणी उन्हें 'दादा' कहकर सम्बोधित करती। बलराम ने उसमें श्रीरामकृष्ण का उल्लेख किया। इससे पूर्व भी वे मृडाणी के पास उनका उल्लेख कर चुके थे। पर मृडाणी ने श्रीरामकृष्ण में कोई उत्सुकता नहीं प्रदर्शित की। उसने बात टालते हुए कहा, "मैंने बहुत से साधु-सन्त देख लिये हैं। यदि तुम्हारे सन्त में सामर्थ्य हो, तो वे मुझे खींच लें, नहीं तो मैं नहीं जाऊँगी।"

सन् १८८२ की बात है, उस समय मृडाणी मात्र पच्चीस वर्ष की थी और श्रीरामकृष्ण, जो दक्षिणेश्वर में रहते थे, छियालीस साल के थे। बंगाल के एक दूरस्थ ग्राम में एक सद्गृहस्थ ब्राह्मण-परिवार में जन्मे श्रीरामकृष्ण ने अपने जीवन का प्रारम्भ एक कट्टर से भी कट्टर धार्मिक व्यक्ति के रूप में बिताया था। फिर भी वे अँगरेजी पढ़े-लिखे 'यंग बेंगाल' की तुलना में कहीं अधिक रूढ़िमुक्त थे। दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर में पुजारी का काम करते समय उनके बचपन की अस्पष्ट चाह और लगन तीव्र हो उठी तथा बीच बीच में उन्हें आध्यात्मिक अनुभूतियों की झलक भी मिलने लगी। भूख-प्यास तथा बाह्य परिवेश से भूले हुए उस युवा-पुजारी ने लम्बे बारह वर्ष अत्यन्त उत्कटतापूर्वक ईश्वर की खोज में लगा दिये थे, जब तक कि अन्त में उन्हें वह सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति न हो गयी, जिसमें उन्होंने अपने को ईश्वर के साथ एकरूप अनुभव किया।

सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करके ही सन्तुष्ट न हो श्रीरामकृष्ण ने इस्लाम तथा ईसाई धर्मों की साधना की तथा उनके माध्यम से भी उन्होंने उसी एक अनुभूति को प्राप्त किया। इससे वे इस धारणा पर पहुँचे कि सभी

धर्मपथ उसी एक लक्ष्य तक पहुँचाते हैं।

आध्यात्मिक अनुभूतियों की भरपूर फसल काटने के बाद जब वे सहजभूमि पर उतरे, तब दूसरे साधकों से उनकी भेंट हुई और उन्होंने उनके साथ अपनी अनुभूतियों का मिलान किया। जब उन्होंने अपने चारों ओर समाज को देखा, तो पढ़े-लिखे युवकों की घोर भौतिकवादिता तथा बिना किसी धार्मिक अनुभूति के उनको धर्म से खिलवाड़ करते देख उन्हें गहरी चिन्ता हुई। जगन्माता पर पूरी तरह से निर्भर रहनेवाले इस व्यक्ति ने शीघ्र ही यह अनुभव किया कि मानव-समाज को घोर जड़वाद से बचाने के लिए ईश्वर उसके माध्यम से बोलने और काम करनेवाले हैं।

श्रीरामकृष्ण अपने जीवन के हर पल में और सब जीवों में ईश्वर का दर्शन करते थे। उनका ईश्वर के साथ यह जो निरन्तर सम्बन्ध बना रहता था उसके फलस्वरूप जब कोई उनसे मिलता, वह अपने को उठा हुआ और अधिक शक्तिमान् अनुभव करता, पर इसका कारण वह न समझ पाता। उनके जीवन ने विशुद्ध धर्म की एक ऐसी लाट उठायी, जो धीरे धीरे सारे देश में फैल गयी और आनेवाली पीढ़ियों के लिए नवशक्ति, आलोक और आनन्द लेती आयी।

बलरामबाबू के यहाँ रहते हुए एक दिन मृड़ाणी अपने पूजाघर में थी और श्रीनिवास द्वारा रचित एक पद गुनगुना रही थी।[४] वह अभिषेक करने के बाद दामोदर-

४. देखें दुर्गापुरी देवी कृत 'गौरी माँ' (बंगला), (कलकत्ता : श्री श्री सारदेश्वरी आश्रम, बंगाब्द १३४६), पृ. ७३। इसके बाद से 'गौरी माँ' कहेंगे।

शालग्राम को पूजा के आसन पर रखने ही वाली थी कि उसने अचानक उस आसन पर दो पद-चिह्न देखे। जब उसने शालग्राम पर तुलसी-पत्र अर्पित किये तो वे फिसलकर उन पदचिह्नों पर गिर पड़े। इस अपूर्व अनुभूति ने उसे गहरी भावावस्था में पहुँचा दिया, जिसमें वह घण्टों डूबी रही। सहजावस्था प्राप्त होने पर उसने अपने भीतर ऐसा अनुभव किया मानो कोई रस्सी से बाँधे उसे खींच रहा हो। रात में मृडाणी ने सपने में एक साधु पुरुष को देखा। उसने स्पष्ट सुना कि वे उसे बुला रहे हैं और एक बार फिर से उसने अपने हृदय में एक तीव्र खिचाव का अनुभव किया। दूसरे दिन सुबह ही वह बलराम बाबू, उनकी पत्नी, चुन्नीलाल बोस की पत्नी तथा अन्य लोगों के साथ दक्षिणेश्वर के लिए निकल पड़ी।

जैसे ही बग्घी[५] दक्षिणेश्वर पहुँची, एक शुभ्र आभा-युक्त प्रातःकाल ने उस दल का स्वागत किया। दक्षिणे-श्वर के सन्त के कमरे में प्रविष्ट होने पर उन लोगों ने देखा कि वे अपने तखत पर बैठे हुए एक लकड़ी में धागा लपेट रहे हैं। मृडाणी ने देखा कि सन्त का मुखमण्डल दिव्यानन्द से आलोकित है और वे दिव्य भाव में डूबे हुए अपने सुमधुर कण्ठ से गा रहे हैं—

ओ माँ, यशोदा के लिए तुम नाचती हो
जब वह 'नील-मणि' कहकर तुम्हें पुकारती है।
तुमने वह सुन्दर रूप कहाँ छुपा रखा है,

५. अक्षयकुमार सेन के अनुसार यह दल नौका द्वारा दक्षिणेश्वर पहुँचा था। देखें 'श्री श्री रामकृष्ण पुंथि' (कलकत्ता : उद्बोधन कार्यालय, ५ वाँ संस्करण), पृ. ३०५।

ओ भयंकरी श्यामा ?
एक बार मेरे लिए तो वैसा नाचो,
अपना खड्ग फेंक कर में बाँसुरी ले . . . ।

धागा लपेटना पूरा कर श्रीरामकृष्ण ने उस घिर्री को अलग रख दिया। दूसरों की देखादेखी मृडाणी ने भी उनके चरणों की धूलि ली। सन्त के मुसकराते हुए मुख-मण्डल के प्रथम दर्शन ने ही उसके भीतर भाव का आलोड़न ला दिया, क्योंकि वह एकदम पहचान गयी कि ये ही व्यक्ति हैं, जो बचपन में उसे मिले थे तथा उसे दीक्षा दी थी। उसे लगा कि उसके भीतर जो खिंचाव लग रहा था, वह एक अनिर्वचनीय आनन्द में परिवर्तित हो गया है। इसके बाद ज्योंही उसका ध्यान उनके चरणों की ओर गया, वह समझ गयी कि दामोदर के आसन पर बने पदचिन्ह श्रीरामकृष्ण के ही थे। अब तो वह दिव्य प्रेम द्वारा डस ली गयी।

अन्य महिलाओं के समान मृडाणी ने भी अपना चेहरा घूँघट से ढक रखा था। यद्यपि श्रीरामकृष्ण उसे घूँघट में से देख पा रहे थे, फिर भी उन्होंने बलरामबाबू से उसके सम्बन्ध में पूछा। बलरामबाबू ने बतलाया कि वह उनके एक मित्र की सबसे छोटी बहन है तथा उनके साथ परि-वार के एक सदस्य-जैसी रह रही है। श्रीरामकृष्ण ने कहा, "यह ठीक है। वह यहीं की है। वह काफी पूर्व से परिचित है।"[६] (श्रीरामकृष्ण ने बाद में गौरदासी के सम्बन्ध में कहा था, "वह कृपासिद्ध गोपी है।"[७]) बल-

६. 'गौरी माँ', पृ. ७८।
७. स्वामी सारदानन्द : 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग' (रामकृष्ण मठ, नागपुर), भाग २, पृ. ४७४।

रामबाबू की बातों से सन्तुष्ट हो अब श्रीरामकृष्ण अपनी अप्रतिम शैली में ईश्वर-चर्चा करने लगे। गौरदासी मुग्ध हो गयी। जब यह दल बिदा लेने लगा, तब श्रीरामकृष्ण ने अपनी मधुर वाणी में गौरदासी से कहा, "बिटिया, फिर आना।"

दक्षिणेश्वर के महान् सन्त का यह बिदाई-वाक्य जिस प्रकार अन्य लोगों पर अपना गहरा प्रभाव डालता था, उसी प्रकार उस पर भी उसने अपना चमत्कारपूर्ण प्रभाव डाला। बलरामबाबू के यहाँ लौटने पर भी उसका ध्यान श्रीरामकृष्ण और उनके सान्निध्य में बीते क्षणों में ही लगा रहा। दूसरे दिन सुबह गंगाजी में स्नान कर एक कपड़े की पोटली ले वह दक्षिणेश्वर के लिए रवाना हो गयी। उसका दामोदर गले से लटकी झोली में था। श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर कालीमन्दिर के प्रमुख द्वार पर खड़े थे। उन्होंने उसका स्नेहपूर्ण स्वागत करते हुए कहा, "मैं अभी तुम्हारे बारे में ही सोच रहा था।" अत्यन्त प्रभावित हो गौरदासी ने अपने व्यक्तिगत जीवन की कई बातें बतलायीं। उसने यह भी बतलाया कि कैसे उसने दामोदर के आसन पर श्रीरामकृष्ण के पदचिह्न देखे थे। अन्त में कहा, "अच्छा होता यदि मुझे पहले मालूम हो जाता कि तुमने अपने आपको लोगों से छुपाकर यहाँ रखा है।" श्रीरामकृष्ण ने मुसकराकर कहा, "तब यह सारी तपस्या जो तुमने की है कैसे करतीं?" श्रीरामकृष्ण उसे नौबतखाने में ले गये, जहाँ सारदादेवी रह रही थीं। उन्हें सम्बोधित कर उन्होंने कहा, "देखो, यह कौन है? तुम एक साथिन चाहती थीं न!" उसके बाद से गौरदासी कभी-कभी सारदादेवी के साथ नौबतखाने में रह जाती। गौरदासी को श्रीरामकृष्ण

में अपने माँ-बाप दोनों ही प्रतीत होते। वह कई प्रकार के व्यंजन बनाकर श्रीरामकृष्ण को खिलाती। कई बार नौबतखाने में अपने सुमधुर कण्ठ से भजन गाती, जिसे सुनकर श्रीरामकृष्णदेव बहुधा समाधिमग्न हो जाते।

अन्य भक्तों के समान मृडाणी का हृदय भी श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व से रँग उठा। वास्तव में श्रीरामकृष्ण का प्रभाव उस पर अदृश्य रूप से कार्य करता रहा, जब तक कि उसका समूचा व्यक्तित्व ही नहीं बदल गया। श्रीरामकृष्ण ने उसके आध्यात्मिक कल्याण का भार अपने ऊपर ले लिया और वे उसे अध्यात्म के पथ पर आगे ले चले। उनके जीवन और उपदेशों ने उसके पवित्र हृदय में आध्यात्मिक शक्ति संचरित कर दी और धीरे-धीरे उसका सम्पूर्ण जीवन परिवर्तित कर दिया। श्रीरामकृष्ण के प्रति उसके अन्दर गहरी श्रद्धा जग उठी, क्योंकि उसे यह अनुभव होने लगा था कि श्रीरामकृष्ण और श्रीचैतन्यमहाप्रभु एक ही हैं। सारदादेवी के प्रति भी उसकी उसी प्रकार गहरी श्रद्धा थी। एक बार उनके सम्बन्ध में उसने कहा था, "श्रीसारदादेवी मात्र उनकी लीला-सहधर्मिणी ही न थीं, वरन् उनमें उन्होंने जगन्माता की पूजा की थी. . .। माँ सारदा के जीवन के महत्त्व को पूरी तरह से समझ लेने पर जगत् में निश्चय ही मुक्तिदायी प्रभाव पड़ेगा।"[८] उनके साहचर्य में गौरदासी को कई बार आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हुई थीं। एक बार सारदादेवी की उपस्थिति में श्रीरामकृष्ण ने परिहास के स्वर में गौरदासी से पूछा था कि वह उन दोनों में से किसे अधिक चाहती है। गौर-

८. स्वामी तपस्यानन्द, : 'Sri Saorada Devi, The Holy Mother' (श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास, १९६९), पृ. १९५।

दासी ने तुरत एक भजन के माध्यम से इसका उत्तर दिया—

हे कृष्ण, बाँसुरी-बजैया, निश्चय ही
तुम राधा से बड़े नहीं हो।
जो संकट में हों वे भले तुम्हें पुकारें,
पर जब तुमको कष्ट होता है
तब तुम बाँसुरी से राधा को ही पुकारते हो ।।

सारदादेवी ने कुछ सकुचाते हुए गौरदासी का हाथ दबाया। श्रीरामकृष्ण दिल खोलकर हँसे और वहाँ से चले गये।

श्रीरामकृष्ण गौरदासी के सम्बन्ध में कहा करते, "यदि कोई स्त्री संन्यास ग्रहण कर ले, तो वह स्त्री नहीं रहती, वह पुरुष बन जाती है।" सारदादेवी ने एक बार कहा था, "एक ऐसा महापुरुष, जिसका जोड़ न हो, दुर्लभ है। गौरदासी ऐसी ही विभूति है।"

गौरदासी श्रीरामकृष्ण को श्रीचैतन्य का अवतार ही मानती थी। उसकी एक आकांक्षा थी कि नवद्वीप में श्रीचैतन्य द्वारा बरसाये प्रेम की एक झलक मिल जाय। एक दिन श्रीरामकृष्ण को भोजन परोसते समय उन्होंने उसका परिचय एक परम भक्त केदारनाथ चटर्जी से करवा दिया। श्रीरामकृष्ण की कृपा से दोनों के भीतर उसी प्रकार के दिव्य प्रेम का संचरण होने लगा, जैसा नवद्वीप में श्री-चैतन्य के भक्तों को होता था। प्रेम बड़ा संक्रामक होता है। न सिर्फ वे दोनों, बल्कि उपस्थित सभी लोग प्रेम में मतवाले हो पागलों की तरह आचरण करने लगे, जब तक कि श्रीरामकृष्ण ने उन लोगों का पुनः सहज नहीं बना दिया।[९]

---

९. 'जीवनवृत्तान्त', पृ. १२६-२७।

एक दिन मन्दिर के बगीचे में गौरदासी फूल चुन रही थी। श्रीरामकृष्ण वहाँ आये और कहने लगे, "अच्छा गौरी, मैं जमीन पर पानी डालता हूँ और तुम मिट्टी सानो।" वह इस गूढ़ कथन का मर्म न समझ सकी। तब श्रीरामकृष्ण ने समझाते हुए कहा, "मेरे कहने का अर्थ यह है कि इस देश की स्त्रियों की अवस्था बहुत शोचनीय है। तुम्हें उनके लिए काम करना होगा।" यद्यपि उसे यह बात रास न आयी, पर वह इस बात पर राजी हो गयी कि हिमालय के किसी एकान्त क्षेत्र में वह लड़कियों को शिक्षित कर सकेगी। परन्तु वे उसे इतनी सहजता से छोड़नेवाले नहीं थे। उन्होंने जोर देकर कहा, "नहीं, नहीं! तुम्हें इसी शहर में कार्य करना होगा। तुमने बहुत साधना कर ली है। अब स्त्रियों की सेवा में अपना जीवन लगा दो। उनकी दशा भयंकर है।" डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के शब्दों में श्रीरामकृष्ण ने उसे संजीवनी देने का निश्चय किया, जिससे गौरदासी अपने संरक्षण में रखी बालिकाओं के कच्चे मन को गढ़ सके। कर्म और साधना का यह स्वस्थ मेल श्रीरामकृष्ण द्वारा प्रचारित नव-वेदान्त का सार है। अब वे गौरदासी के माध्यम से इसका प्रयोग दिखलाना चाहते थे।

अपने लीलाकाल के अन्त-अन्त में श्रीरामकृष्ण को गले का कैंसर हो गया था। अन्त तक प्रसन्नचित्त और धैर्यवान् रहकर उन्होंने अपने अन्तरंग अनुयायियों को प्रशिक्षित करने में अपने आपको व्यस्त रखा था। उन्होंने गौरदासी को एक विशेष प्रकार की साधना करने के लिए कहा, और १८८६ के प्रारम्भ में गौरदासी ने वृन्दावन में रहकर उसे प्रारम्भ किया। उसकी यह साधना नौ महीने तक चली, पर उसके पूर्ण होने के पहले ही श्रीरामकृष्ण ने अपनी

लीला संवरण कर ली। गौरदासी को यह जानकर और अधिक दुःख हुआ कि श्रीरामकृष्ण ने कलकत्ते के काशीपुर उद्यान में रहते समय उसे देखने की कई बार इच्छा प्रकट की थी। दुःख के पारावार में डूब उसने कठिन तपस्या करके अपने जीवन को समाप्त करने का निश्चय किया, परन्तु श्रीरामकृष्ण ने दर्शन देकर उसे इससे विरत किया। सारदादेवी ने वृन्दावन जाने पर गौरदासी का पता लगवाया। उनकी भेंट उससे रावा की एक सुनसान गुफा में हुई। सारदादेवी के वृन्दावन से लौट आने पर भी गौरदासी लगभग दस वर्षों तक वहीं वृन्दावन के आसपास बनी रही। बीच में केवल कुछ समय के लिए वह दूसरी बार हिमालय-यात्रा पर गयी थी। कठोर तपस्या और आध्यात्मिक साधना ने, श्रीरामकृष्ण के माध्यम से हुई प्रभु-कृपा के साथ मिलकर, उसके भीतर के उच्च आध्यात्मिक रहस्यों को उद्घाटित कर दिया। इस उद्घाटन को कीट-डिम्ब से तितली बनने की तुलना दी जा सकती है। कीट-डिम्ब पत्तियों पर रहता है और धूप-पानी पा इल्ली रूप में परिवर्तित हो अन्त में सुन्दर तितली बन जाता है।

मृडाणी सन्त गौरी-माँ के रूप में परिवर्तित होकर एक आध्यात्मिक ज्योति-केन्द्र और श्रीरामकृष्ण की प्रकाश-वाहक बन गयीं। १८९५ में उनके कलकत्ता वापस लौटने पर उनके यशस्वी जीवन का एक नया अध्याय खुल गया। वे वास्तव में श्रीरामकृष्ण की एकमात्र संन्यासिनी शिष्या थीं। सुनते हैं कि दक्षिणेश्वर में उनके रहते समय श्रीरामकृष्ण ने उन्हें गेरुआ वस्त्र प्रदान किया था और उनके आदेशानुसार ही गौरदासी ने संन्यास-दीक्षा का आयोजन किया था। ऐसा भी सुनते हैं कि श्रीरामकृष्ण ने स्वयं एक

बिल्व-पत्र उस पवित्र अग्नि में आहुतिस्वरूप डाला था।[१०]

अपनी विस्तृत यात्राओं से देश की स्त्रियों की दयनीय स्थिति का उनका प्रत्यक्ष ज्ञान, उनकी विद्वत्ता, उनकी क्रियाशीलता तथा कार्य-संचालन की कुशलता, उनका आध्यात्मिक अनुभव, और सर्वोपरि उनके गुरु का आदेश —इन सबने मिलकर उन्हें भारतीय नारियों को शिक्षा देने का कार्य अपने हाथ में लेने के लिए प्रेरित किया। अमेरिका से स्वामी विवेकानन्द द्वारा लिखे उत्साहपूर्ण पत्रों ने उन्हें वह दायित्व सँभालने के लिए प्रेरित किया। स्वामीजी ने अपने एक पत्र में स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखा था, "स्त्रियों की व्यवस्था को बिना सुधारे जगत् के कल्याण की कोई सम्भावना नहीं है। पक्षी के लिए एक पंख से उड़ना सम्भव नहीं है।... इस कारण रामकृष्ण-अवतार में 'स्त्री-गुरु' को ग्रहण किया गया है, इसीलिए उन्होंने स्त्री के रूप और भाव में साधना की और इस कारण ही उन्होंने जगज्जननी के रूप का दर्शन नारियों के मातृ-भाव में करने का उपदेश दिया।... इसलिए मेरा पहला प्रयत्न स्त्रियों के मठ को स्थापित करने का है। इस मठ से गार्गी और मैत्रेयी और उनसे भी अधिक योग्यता रखने-वाली स्त्रियों की उत्पत्ति होगी...।"[११] अपने इस लक्ष्य को पाने के लिए स्वामीजी पहले उन्हीं का आश्रय लेना चाहते थे जिन्हें श्रीरामकृष्ण ने स्वयं चुना था। १८९४ में स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखे अपने एक अन्य पत्र में वे पूछते हैं, "गौरी माँ कहाँ हैं? हजारों गौरी माताओं की

---

१०. 'गौरी माँ', पृ. १०३।

११. 'विवेकानन्द साहित्य' (मायावती अद्वैत आश्रम), जन्मशती संस्करण, भा. ४, पृ. ३१७।

आवश्यकता है, जिनमें उन्हीं के समान noble stirring spirit (महान् एवं तेजोमय भाव) हो।"[१२] २७ अप्रैल, १८९६ को लिखे एक अन्य पत्र में स्वामीजी ने सुझाव दिया, "कृपया यह पत्र गौरी माँ, योगीन माँ आदि को दिखा देना और उनके द्वारा स्त्रियों का मठ स्थापित करवाना। एक वर्ष के लिए गौरी माँ को उसका अध्यक्ष बनने दो। . . . वे अपना कार्य स्वयं सँभालें।"[१३]

इस प्रकार श्रीरामकृष्ण से प्रेरणा ले, श्री माँ सारदा के आशीर्वाद पा और स्वामी विवेकानन्द के पत्रों से उत्साहित हो गौरी माँ ने बैरकपुर में गंगाजी के किनारे कपालेश्वर में सारदेश्वरी आश्रम प्रारम्भ किया। शीघ्र ही संस्था बड़ा रूप लेने लगी, तब उसे १९११ में कलकत्ते के एक किराये के मकान में तथा १९२४ में उसके वर्तमान स्थान २६ महारानी हेमन्तकुमारी स्ट्रीट, श्यामबाजार, कलकत्ता में स्थानान्तरित कर दिया गया। श्रीरामकृष्ण और सारदादेवी के आगमन से इस देश में जो नवीन पुनर्जागरण प्रारम्भ हुआ, उससे स्त्रियों के सम्बन्ध में बनी अन्धविश्वास की दीवाल टूट गयी और देश भर में प्रगतिशील विचारों की एक तरंग उठ गयी। सारदेश्वरी आश्रम ने बंगाल की सैकड़ों लड़कियों और स्त्रियों के लाभ के लिए इस तरंग को दिशा देकर एक मार्गदर्शक का कार्य किया।

गौरी माँ श्री माँ सारदा की विशेष स्नेहभाजन थीं। उनकी समर्पित सेवा और उनके उद्देश्य के सम्बन्ध में माँ सारदा ने एक बार कहा था, "गौरदासी अपने आश्रम की लड़कियों की खूब देखभाल करती है। यदि कोई बीमार

१२. 'विवेकानन्द साहित्य', भा. ३, पृ. ३६१।
१३. 'विवेकानन्द साहित्य', भा. ४, पृ. ४०२।

हो जाय, तो स्वयं उसकी सब प्रकार से सेवा-शुश्रूषा करती है। अपने स्वयं के जीवन में उसे यह सब नहीं करना पड़ा, पर ठाकुर उसके द्वारा यह सब इसी ढंग से करा ले रहे हैं। यह उसका अन्तिम जन्म है।"[१४]

ठाकुर के इस संसार से लीला-संवरण के उपरान्त उनके निर्देश गौरदासी में साकार हुए। वे याद करतीं कि श्रीरामकृष्ण ने उन्हें इस देश की नारियों की सेवा और उनसे प्रेम करने को कहा था। सारदादेवी का जीवन दैवी मातृ-भाव का प्रत्यक्ष उदाहरण था, जिससे धीरे-धीरे नारी-जाति की शक्ति जाग रही थी। श्री माँ सारदा से आशीर्वाद पा गौरी माँ ने अपने गौरवमय जीवन के अन्तिम चालीस साल जगन्माता के जीते-जागते मन्दिर---इस देश की कन्याओं---की अनलस सेवा में लगा दिये। और उनकी सेवा के पीछे श्रीरामकृष्ण का जीवन तथा उनके कार्य-कलाप सदा प्रेरणा का स्रोत बने रहे।

सैकड़ों लोगों ने गौरी माँ से आध्यात्मिक मार्गदर्शन पाया था। वे अपने शिष्यों, साथियों और कर्मियों के लिए शक्तिस्तम्भस्वरूप थीं। एक लेखक ने सच ही लिखा है, 'उपनिषद् जैसा चाहते हैं—बलवान्, साहसी और दृढ़ इच्छाशक्तिसम्पन्न---वे वैसी ही थीं।. . . उनकी उपस्थिति मात्र से शक्ति संचारित हो उठती और निराश हृदयों में साहस एवं आशा जाग उठती। . . . उनमें जैसी शक्ति थी वैसी तो पुरुषों में भी दुर्लभ होती है।[१५] भारतीय गृहि-

१४. Her Direct Disciples : 'At Holy Mother's Feet' (मायावती, अद्वैत आश्रम, १९६३), पृ. १८८।

१५. 'The Disciples of Sri Ramakrishna' (मायावती, अद्वैत आश्रम, १९५५), पृ. ४८९।

णियों को उद्बोधित करते हुए गौरी माँ ने कहा था, "माताओ, यह मत भूलो कि समाज की वर्तमान अवस्था में शान्ति, पवित्रता और चारित्रिक दृढ़ता के द्वारा समाज-जीवन में सन्तुलन बनाये रखने की सबसे बड़ी जिम्मेदारी तुम लोगों पर है।"[१६]

२८ फरवरी, १९३८ को शिवरात्रि के दिन अस्सी वर्षीया संन्यासिनी गौरी माँ ने बतलाया कि वह श्रीरामकृष्ण का दुर्निवार खिंचाव पुनः अनुभव कर रही हैं। रात्रि के समाप्त होते होते गौरी-माँ ने अपने दामोदर को मँगवाया। जब दामोदर को लाया गया, उनके मुख से उद्गार निकला, "कितना सुन्दर है। मैं एकदम साफ देख पा रही हूँ---चाहे आँखें खुली रखूँ या बन्द। मैं सब समय देख रही हूँ।" उन्होंने शालग्राम अपने माथे से छुलाया, फिर हृदय से लगाया और फिर आश्रम की प्रमुख को सौंप दिया। दूसरे दिन उन्होंने देह त्याग दी। इस महिला-सन्त के मौन-सम्पर्क में आकर कितने लोगों का जीवन परिवर्तित हो गया इसको भला कौन आँक सकता है। उनके सन्तत्व, प्रेरणादायक व्यक्तित्व और अथक परिश्रम ने न केवल रामकृष्ण-भावधारा के प्रसार में वरन् भारतीय नारीत्व के जागरण के इतिहास में भी उनका एक महत्त्व-पूर्ण स्थान बना दिया है।

○

१६. 'Gauri Mata and Her Mission' (कलकत्ता : सारदेश्वरी आश्रम, १९५८), पृ. २३।

रसद्दार मथुर (७)

मूल बंगला लेखक—*नित्यरंजन चटर्जी*, कलकत्ता
अनुवादक—*श्याम सुन्दर चटर्जी*, कवर्धा (म. प्र.)

(गतांक से आगे)

जगदम्बा को कठिन रोग है। मथुरामोहन ने अर्थव्यय करने में थोड़ी भी कृपणता नहीं की। शहर के सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक आये, किन्तु रोगी के स्वास्थ्य में थोड़ा भी सुधार नहीं हुआ। रोग रंचमात्र भी कम नहीं हुआ। अन्त में एक दिन चिकित्सक जवाब देकर चला गया।

मथुरामोहन चिन्ता से विह्वल हो उठे। जगदम्बा यदि नहीं बचेगी, तो उनका सभी से सम्बन्ध ही समाप्त हो जाएगा। अब क्या उपाय होगा?

अकस्मात् अन्धकार में आशा की एक किरण दिखायी दी। करुणाघन श्रीरामकृष्ण की मूर्ति उनकी आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो उठी। वे तुरन्त दक्षिणेश्वर की ओर चल पड़े।

आनन्दमय पुरुष पंचवटी के नीचे आत्मविभोर होकर बैठे हुए हैं। मथुरामोहन उनके रक्ताभ चरणों में लुण्ठित हो पड़े।

'क्यों रे, क्या हुआ है तुझे? आज और क्या करके आ गया?"

"मेरा तो सब कुछ लुट गया, बाबा। लगता है अब तुम्हारी सेवा करने से भी वंचित हो गया। जगदम्बा मृत्यु-शय्या पर पड़ी है। उसके बचने की अब कोई आशा नहीं है। यदि तुम कृपा नहीं करोगे, तो मुझे कौन देखेगा? तुम कल्पतरु हो! तुम्हारी करुणा का अन्त नहीं है।"

मथुरामोहन का कण्ठ रुद्ध हो गया। दोनों आँखों से

अश्रुधारा बह चली।

श्रीरामकृष्ण का अन्तर वेदना से भर उठा। भावावेश में ही बोल उठे, "जा, घर लौट जा। माँ की इच्छा से जगदम्बा ठीक हो जाएगी।"

मथुरामोहन घर लौट आये। आश्चर्य ! मानो किसी जादू-मंत्र की शक्ति से सब कुछ पलट गया। रोग का प्रकोप कम होने लगा और जगदम्बा की दशा में सुधार आने लगा।

"जगदम्बा कैसे स्वस्थ हो उठी? यह क्या कोई इन्द्रजाल है, बाबा?"—श्रीरामकृष्ण से मथुरामोहन ने प्रश्न किया।

"इन्द्रजाल क्यों होगा, रे ! जो कुछ हुआ है, सब सत्य है। इस शरीर के भीतर सब खींच लिया है। अब तो मुझे ही इसे भोगना पड़ेगा !"

मथुरामोहन तीर्थ-भ्रमण में जाएँगे। साथ में जगदम्बा और अनेक लोग भी जाएँगे। श्रीरामकृष्ण से भी साथ में चलने के लिए उन्होंने अनुरोध किया। श्रीरामकृष्ण अपनी सहमति व्यक्त कर हृदय से बोले, "हृदू, चल हम लोग भी सेजोबाबू के साथ तीर्थ-भ्रमण कर आएँ।"

वैद्यनाथधाम में कुछ दिन व्यतीत कर वे लोग हिन्दुओं के सर्वश्रेष्ठ तीर्थ—मर्त्यलोक के स्वर्ग—काशीधाम में आये। यहाँ पहुँचकर वे लोग केदारघाट के निकट ठहरे।

मथुरामोहन के राजसी ठाट का मानो कोई अन्त नहीं है। जब पथ पर निकलते हैं, तो उनके सिर पर चाँदी की छतरी धारण किये वर्दीधारी दरबान साथ में चलता है। एकदम राजा-महाराजा का वेश। बाह्य तड़क-भड़क सोलहों आने है, किन्तु भीतर से तो दीनबन्धु ही हैं।

श्रीरामकृष्ण बाबा विश्वनाथ के दर्शनार्थ नाव में

बैठकर आ रहे हैं। मणिकर्णिका श्मशान के पास आते ही उन्हें भाव-समाधि हो गयी। भाव में उन्होंने देखा कि एक पिंगलवर्ण जटाजूटधारी दीर्घाकार श्वेत वर्ण का पुरुष धीरे-धीरे श्मशान की प्रत्येक चिता के समीप आ रहे हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति को यत्नपूर्वक उठाकर उसके कान में तारक-ब्रह्ममन्त्र प्रदान कर रहे हैं। सर्वशक्तिमयी जगदम्बा भी स्वयं महाकालीरूप से जीव के दूसरी ओर उस चिता पर बैठकर उसके स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि सब प्रकार के संसार-बन्धनों को खोल दे रही हैं तथा निर्वाण के द्वार को उन्मुक्त कर अपने हाथ से उसे अखण्ड के घर पर भेज रही हैं।

श्रीरामकृष्ण के इस दिव्य दर्शन की बात को उनके मुख से सुनकर मथुरामोहन के साथ के शास्त्रज्ञ पण्डितों ने कहा, "काशीखण्ड में संक्षेप में यह लिखा तो है कि यहाँ पर मृत्यु होने से विश्वनाथ जीव को निर्वाणपद प्रदान करते हैं, पर किस प्रकार प्रदान करते हैं इसका कोई विस्तृत उल्लेख नहीं है। यह तो आपके दर्शन से ही विदित हुआ कि वह किस प्रकार सम्पन्न होता है।"

वाराणसी में रहते समय श्रीरामकृष्ण त्रैलंग स्वामी के दर्शन करने भी गये। त्रैलंग स्वामी को देखते ही वे विशेष रूप से आनन्दित हुए। उस समय उन्होंने मौन धारण कर रखा था। संकेत से ही दोनों में बातें हुईं।

"ईश्वर एक हैं या अनेक?"——श्रीरामकृष्ण का प्रश्न था।

"यदि समाधिस्थ होकर देखो तो वे एक हैं, अन्यथा जब तक हम-तुम, जीव-जगत् आदि नाना प्रकार का ज्ञान है, तब तक वे अनेक हैं।"——मौन उत्तर प्राप्त हुआ।

"सेजोबाबू, इनके शरीर में यथार्थ परमहंस के लक्षण हैं। साक्षात् विश्वेश्वर हैं ये! इन्हें मैं परमान्न खिलाना चाहता हूँ। तुम इसकी व्यवस्था कर दो!"––श्रीरामकृष्ण मथुरामोहन से बोले।

मथुरामोहन ने व्यवस्था कर दी। श्रीरामकृष्ण ने अपने हाथों से महायोगी के अधरों पर अमृतपात्र रखा। महापुरुष परितृप्त हुए। श्रीरामकृष्ण के आनन्द की सीमा न रही।

"मुझे एक दिन बीन सुनवाओ न, सेजोबाबू!"––श्रीरामकृष्ण के कण्ठ में अनुरोध का स्वर है।

"मदनपुरा में महेश सरकार उस्ताद बीनकार हैं। गुणी व्यक्ति हैं। चारों ओर उनका नाम-यश है। उन्हें यहाँ बुला लेता हूँ। मन भर के जितना बीन सुनना है, सुनो।"––मथुरामोहन बोले।

"रहने दो तुम्हारा अहंकार, तुम्हारी मर्यादा, सेजोबाबू! ऐसे जो बजानेवाले हैं, उनका वादन ईश्वर सुनते हैं। उन्हें तुम यहाँ बुलाकर लाओगे? उससे तो ईश्वर की मर्यादा ही क्षीण होगी। मैं स्वयं बीन सुनने वहाँ जाऊँगा। रहो तुम अपने तुच्छ अहंकार का अभिमान लेकर।"––श्रीरामकृष्ण क्षुब्ध होकर बोले।

उनके पास कोई बहाना, कोई आपत्ति नहीं चली। श्रीरामकृष्ण हृदय को साथ में ले मदनपुरा चले गये।

बीन के झंकार से उन्हें भाव-समाधि हो गयी। बुदबुदाते हुए जगन्माता से कहने लगे––"मेरा बाह्य ज्ञान लुप्त मत कर, माँ। मुझे मन भरकर सुनने दे।"

उस्ताद का वीणा-वादन तीन घण्टे तक चला। वीणा के झंकार से हृदयतंत्र झंकृत हो उठा। दोनों आँखों से

अश्रुधारा झरने लगी।

काशी में श्रीरामकृष्ण मथुरामोहन को एक दिन कल्पतरु होने के लिए बोले। कहा—"पर देखो किसी को नहीं लौटाओगे। जो जैसा माँगेगा, उसे वैसा ही देना पड़ेगा। किसी प्रकार का बहाना नहीं चलेगा।"

मथुरामोहन सहमत हुए। उन्होंने सोचा इस अवसर पर श्रीरामकृष्ण को भी कुछ दिया जा सकेगा। मुक्तहस्त से उन्होंने दान दिया। किसी को नहीं लौटाया। जिसने जो चाहा, उसने वही पाया। अचानक मथुरामोहन के मन में आया—कहाँ, बाबा ने तो कुछ भी नहीं लिया!

"तुम भी कुछ लो, बाबा, नहीं तो मेरा यह सब व्यर्थ हो जाएगा।"—मथुरामोहन ने अनुनय-विनय की।

श्रीरामकृष्ण के अधरों पर भुवनमोहन मुसकान खिल उठी।

"जब तुम्हें मुझे कुछ देने की इतनी लालसा हुई है, तो एक कमण्डल दे देना।"

मथुरामोहन अवाक् हो गये। श्रीरामकृष्ण की जननी की बात उन्हें स्मरण हो आयी। सैकड़ों प्रलोभन देकर भी उन्हें तनिक विचलित न कर पाये थे। उन्होंने कृपा करते हुए केवल एक आने का तम्बाकू ही ग्रहण किया था। ऐसी माता से ही तो ऐसे पुत्र का आविर्भाव होता है!

"चलो, बाबा, अब प्रयाग चलें। पुण्यसलिला संगम में स्नान कर आएँ।"—मथुरामोहन ने प्रस्ताव रखा।

श्रीरामकृष्ण ने कोई आपत्ति नहीं की।

उन लोगों ने प्रयाग के त्रिवेणी-संगम में स्नान किया तथा वहाँ त्रिरात्रिवास भी किया। शास्त्रीय विधानानुसार मथुरामोहन तथा अन्य सबों ने वहाँ मुण्डन भी करवाया।

"अरे, मुझे यह सब करने का कोई प्रयोजन नहीं है।"—श्रीरामकृष्ण बोले।

प्रयाग से सब लोग काशी लौट आये। यहाँ लगातार पन्द्रह दिन तक ठहरे। इसके बाद वृन्दावन गये। यहाँ भी मथुरामोहन ने मुक्तहस्त से दान दिया—ठीक उसी तरह जैसा उन्होंने काशी में किया था। उन्होंने प्रत्येक देवस्थान में प्रणामी के रूप में एक गिनी प्रदान की।

यमुना के तट पर श्रीरामकृष्ण घूमने आये हुए हैं। साथ में मथुरामोहन भी हैं। अचानक उन्हें कुछ हुआ। उन्मत्त की भाँति 'कहाँ हो 'कृष्ण', 'कहाँ हो, कृष्ण' कहते हुए यमुना-तट के किनारे-किनारे दौड़ने लगे। उन्हें रोकना कठिन हो गया। अन्त में किसी प्रकार समझा-बुझाकर मथुरामोहन उन्हें घर लौटा लाये।

पालकी में बैठकर श्यामकुण्ड-राधाकुण्ड की ओर जाते समय ज्योंही गोवर्धन दीख पड़ा, त्योंही आत्मविस्मृत हो श्रीरामकृष्ण दौड़कर वहाँ चले गये। पारखी लोगों ने कहा—यह तो महाभाव है, चैतन्यदेव को भी ऐसा हुआ था।

श्रीरामकृष्ण वृन्दावन छोड़कर नहीं जाना चाहते। निधुवन के समीप कुटी बनाकर कृष्णप्रेम में मतवाली गंगामाई निवास करती थीं। उनकी उम्र लगभग साठ वर्ष की थी। वे मन-प्राण से श्रीरामकृष्ण की सेवा करतीं। कहतीं—"इनमें श्रीराधिका ही आविर्भूत हुई हैं।" इसीलिए वे श्रीरामकृष्ण को 'दुलारी' कहकर पुकारतीं। गंगामाई को पाकर श्रीरामकृष्ण भी सब कुछ भूल गये।

"मैं यहीं रह जाऊँगा।"—श्रीरामकृष्ण बोले।

मथुरामोहन असमंजस में पड़ गये। हृदय रुष्ट होकर

कहने लगा--"तुम तो रह जाओगे ,पर उधर नानी-माँ का क्या हाल होगा, सोचा है ? वे दक्षिणेश्वर में तुम्हारी बाट जोह रही होंगी।"

यह बात जादू की भाँति काम कर गयी। श्रीरामकृष्ण ने अब एक मुहूर्त के लिए भी वहाँ और ठहरना नहीं चाहा। बोल उठे--"अरे हृदू, अब मैं यहाँ नहीं रहूँगा, दक्षिणेश्वर लौट चलूँगा।"

मथुरामोहन गया होकर लौटना चाहते थे। किन्तु श्रीरामकृष्ण सहमत नहीं हुए।

वृन्दावन से लौटते समय श्रीरामकृष्ण अपने साथ श्यामकुण्ड एवं राधाकुण्ड की रज लेते आये थे। उसका कुछ अंश उन्होंने दक्षिणेश्वर में पंचवटी के चारों ओर छिड़क दिया था। शेष भाग साधनाकुटी में गड़ाकर रख दिया।

"सेजोबाबू, जान लिये रहो, आज से यह पंचवटी और यह साधनाकुटी वृन्दावन की भाँति देवभूमि हो गयी।"

हृदय के मन में एक तूफान उमड़ रहा है। वह देखता है कि मामा के पास आकर कितने लोगों को भाव,दर्शन आदि हो रहे हैं। स्वयं मामा के ही जीवन में कितनी दिव्य अनुभूतियाँ दिखायी पड़ती हैं। एक दिन वह मामा के पास मचल उठा--"तुम्हें जैसे भाव आदि होता है, उसी तरह का कुछ मुझे भी दो, मामा! सूखी सेवा करके और कितना समय बिताऊँगा ?"

"तुझे इन सबकी कोई आवश्यकता नहीं है, हृदे। तू जैसा कर रहा है, उसी तरह करता रह। सेवा से ही तुझे फल मिलेगा। उसी से तेरा भला होगा।"

"रहने दो तुम्हारी घिसी-पिटी बातें। अब बातों से मैं भुलावे में नहीं आऊँगा। बहुत सेवा की, पर कुछ भी फल नहीं मिला। मुझे तो कुछ देना ही पड़ेगा।" --हृदय गरजकर बोला। श्रीरामकृष्ण यदि देंगे नहीं तो हृदय भी छोड़नेवाला नहीं है।

"ठीक है, माँ को जाकर बोल। माँ की जो इच्छा होगी, वही होगा।"--श्रीरामकृष्ण ने हृदय के हाथ से किसी तरह छुटकारा पाने के लिए कहा।

हृदय ने माँ के मन्दिर में जाकर अपनी कामना व्यक्त की। फल प्राप्त करने में लेशमात्र विलम्ब न हुआ।

हृदय भाव-समाधि में डूब गया। यह देख मथुरामोहन घबरा उठे। ऐसा होने से बाबा की सेवा-शुश्रूषा कौन करेगा? उनका मन चिन्ता से भर उठा।

"हृदू की ऐसी अवस्था क्यों हुई, बाबा?"

"यह ढोंग नहीं कर रहा है, जी। मुझे बहुत तंग कर रहा था। मैंने कह दिया था--माँ की इच्छा होने पर होगा। उसने माँ से अपने मन का भाव व्यक्त किया था। इसीलिए माँ ने उसकी यह अवस्था कर दी है। अब माँ ही उसको सब समझा देंगी।"

मथुरामोहन की चिन्ता समाप्त हुई, फिर भी बोले--"क्या मालूम, बाबा, मुझे तो लगता है यह सब तुम्हारा ही खेल है। तुम्हीं ने हृदय की यह अवस्था कर दी है, अब तुम्हीं इसे ठीक कर दो, बाबा! हम दोनों नन्दी-भृंगी हैं, मन भरकर तुम्हारी सेवा करेंगे। तुम्हारे पास ही सर्वदा रहेंगे। हम लोगों की ऐसी अवस्था होने पर कैसे काम चलेगा, बाबा?"--कातर कण्ठ से अनुनय-विनय की मथुरामोहन ने।

महायोगी हँस पड़े।

"चल पगले, मैं कुछ नहीं जानता। माँ की इच्छा से ही सब होता है। माँ ही उसे सहज अवस्था में लौटा ले आएँगी। दो दिन में ही सब ठीक हो जाएगा।"

हुआ भी ठीक वही। दो दिन में ही हृदय को सहज अवस्था प्राप्त हो गयी। एकदम स्वाभाविक। समझ में ही नहीं आता है कि इसी व्यक्ति का आचरण दो दिन पूर्व भिन्न था।

हृदय श्रीरामकृष्ण को अपने गाँव ले चलने के लिए हठ करता है। इस बार वहाँ अपने निवासस्थान में धूमधाम से दुर्गोत्सव मनाने की कामना है।

मथुरामोहन नाराज हो गये। बोले—"बाबा को छोड़कर मैं नहीं रह सकूँगा। तुम्हारी और दूसरी कोई बात हो तो कहो।"

"मेरे घर में यह प्रथम दुर्गापूजा है। मामा को क्या वहाँ नहीं ले जा सकूँगा?"—व्यथित होकर हृदय ने कहा।

करुणाघन श्रीरामकृष्ण का मन द्रवित हो गया। भावावेश में ही बोल उठे, "चिन्ता मत कर, हृदे! तेरी पूजा में मैं ठीक हाजिर होऊँगा। कोई यदि मुझे न भी देख पाए, तो तू अवश्य ही देख पाएगा।"

हृदय खुश हो गया। मथुरामोहन से कुछ रुपये लेकर वह चला गया।

पूजा के लग्न के समय हृदय ने विस्मित हो श्रीरामकृष्ण को प्रतिमा के पास ही दण्डायमान देखा। उसने देखा कि प्रतिमा का मुख भी मानो हर्ष से दमक रहा है।

○

(क्रमशः)

भगवान् बुद्धः जीवनी तथा तत्त्वोपदेश

स्वामी वागीश्वरानन्द
(रामकृष्ण मठ, नागपुर)

(पूर्वार्ध)

बद्ध्वा पद्मासनं यो नयनयुगमिदं न्यस्य नासाग्रदेशे
धृत्वा मूर्तौ च शान्तौ समरसमिलितौ चंद्रसूर्याख्यवातौ ।
पश्यन्नंर्तविशुद्धं किमपि च परमं ज्योतिराकारहीनं
सौख्याम्भोधौ निमग्नः स दिशतु भवतां ज्ञानबोधं बुधोऽयम् ।।

आज से कोई ढाई हजार वर्ष पहले की बात है। उस समय भारत की धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थिति नितान्त शोचनीय हो गयी थी। सनातन वैदिक धर्म के मूल सिद्धान्तों के प्रति लोगों का आदर कम होता जा रहा था। बाह्य अनुष्ठानों के नीरस-निर्जीव आडम्बर में डूब लोग धर्म के प्राण को—अन्तरंग को—भूल बैठे थे। शील, सदाचार आदि का ह्रास होकर विलासिता, स्वार्थपरायणता, इन्द्रियलोलुपता का द्रुतगति से प्रसार हो रहा था। विद्वान् लोग केवल शुष्क बुद्धिवाद के बल पर नवीन मार्ग की व्यवस्था में लगे थे। एक ओर अन्धविश्वास के कारण भाग्य और ईश्वर के नाम पर लोग आत्मविश्वास, पुरुषार्थ और स्वावलम्बन के प्रति विश्वास खो बैठे थे, तो दूसरी ओर व्यर्थ की दिमागी कसरतों के फलस्वरूप लोग अधिकाधिक संशयग्रस्त होते जा रहे थे। परस्पर-विरोधी दृष्टियों के कारण साधारण जन धर्म का मार्ग चुनने में किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये थे।

सामाजिक व्यवस्था भी बड़ी अस्त-व्यस्त हो चली थी। जाति-वर्णों की विषमता बढ़ गयी थी, दास-दासियों तथा स्त्रियों की दशा अत्यन्त हीन थी। भोग-विलास का अतिरेक हो समाज उच्छृंखल हो रहा था। सर्वत्र कलह, अशान्ति का वातावरण छा गया था।

ऐसे समय सनातन धर्म का पुनरुज्जीवन—विशुद्ध आर्य-

धर्म का अभ्युत्थान अत्यन्त आवश्यक था। और यह कार्य भगवान् तथागत बुद्ध ने किया। अपने नितान्त निर्मल, अत्युज्ज्वल त्याग-वैराग्य-तपोमय जीवन के द्वारा उन्होंने निवृत्ति की महिमा पुनः प्रदर्शित की। शील और सदाचार की आधारशिला पर धर्म को प्रतिष्ठित करते हुए लोगों में आत्मविश्वास जगाया कि तुम प्रयत्न करने पर अपना मोक्ष आप साधित कर सकते हो। मनुष्य की स्वतंत्रता, स्वावलम्बन, मानवता के प्रति आदरभाव, युक्ति और तर्क के आधार पर सिद्धान्त-ग्रहण इत्यादि की महत्ता प्रतिपादित करते हुए उन्होंने असंख्य लोगों का कल्याण साधित किया।

भगवान् बुद्ध का जीवनकाल ईसवी पूर्व ६२४ से ५४४ (या मतान्तर से ई. पू. ५६३ से ४८३) तक माना जाता है। उनके इस ८० वर्ष के जीवनकाल के हम निम्नोक्त प्रकार से तीन विभाग कर सकते हैं--

पूर्व भाग : प्रथम २९ वर्ष का--जन्म से गृहत्याग तक,
मध्य भाग : ३० से ३५ वर्ष तक ६ वर्ष का--
तपश्चर्या और सिद्धि-प्राप्ति तक तथा
उत्तर भाग : ३६ से ८० वर्ष तक ४५ वर्ष का--
धर्म-प्रचार से परिनिर्वाण तक।

प्राचीन कोशल जनपद के प्रधान नगर, स्वतंत्र गणराज्य कपिलवस्तु के शाक्यवंशीय राजा शुद्धोधन की रानी महामाया या मायादेवी के गर्भ से वैशाखी पूर्णिमा को भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ। प्रसूति के लिए अपने पीहर देवदेहनगरी को जाते समय कपिलवस्तु से १४-१५ मील दूर लुम्बिनी नामक उपवन में शालवृक्षों के नीचे रानी प्रसूत हुईं और इसके बाद सातवें ही दिन

उनका शरीरान्त हो गया । बालक का पालन-पोषण उसकी मौसी महाप्रजापती या गौतमी ने किया, जो उसकी विमाता भी थीं ।

पुत्रजन्म से अपने मनोरथ सिद्ध होते देख शुद्धोधन ने बालक का नाम सिद्धार्थ रखा । बालक का दूसरा नाम 'गौतम' हुआ ।

कुमार जन्म से ही असामान्य महापुरुष के लक्षणों से युक्त था । भविष्यज्ञ ब्राह्मणों ने उसके भविष्य के सम्बन्ध में कहा कि यह बालक या तो चक्रवर्ती सम्राट् होगा या सम्यक् सम्बुद्ध होगा । कुमार के जन्मोत्सव के समय असित मुनि ने आकर उसका दर्शन करते हुए शुद्धोधन से कहा था, "राजन् ! यह बालक संसार को अपूर्व धर्मज्ञान प्रदान करेगा । पर दुःख की बात यह है कि मैं उस समय नहीं रहूँगा । अनेक युगों के बाद ही ऐसा नररत्न जन्म-ग्रहण करता है । इसे देख मैं धन्य हुआ !"

शाक्यों की प्रथा के अनुसार प्रतिवर्ष आषाढ़ में 'वप्रमंगल' का उत्सव होता था, जिसमें राजा स्वयं हल चलाता था । एक बार इस उत्सव के अवसर पर पिता के साथ बालक खेत पर गया हुआ था । सब लोग जब उत्सव में व्यस्त थे, तब अकेला बालक जम्बुवृक्ष के नीचे वज्रासन लगाये बैठ गया । इस अवस्था में उसे 'प्रज्ञापार-मिता' या सर्वोच्च ज्ञानानुभूति की झलक मिली थी ।

योग्य समय में बालक ने गुरुगृह में रहते हुए वेद, पुराण, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, इतिहास आदि शास्त्रों का अध्ययन किया और धनुर्विद्यादि अनेक कलाओं में पारंगत हुआ ।

बाल्यावस्था से ही वह शान्त, गम्भीर और विचार-

शील था। उसके हृदय में अनित्य संसार के प्रति विराग और परम सत्य के प्रति अनुराग तीव्रता से प्रवाहित हो रहा था।

१९ वर्ष की आयु में सिद्धार्थ गुरुगृह से लौट आया। राजा शुद्धोधन ने उसका विवाह कोलियवंश की राजकुमारी यशोधरा गोपा से कर दिया। पुत्र की वैराग्य-प्रवणता देख शंकित होकर शुद्धोधन उसे संसार-सुखों की ओर आकर्षित करने का भरसक प्रयत्न करने लगे। उन्होंने कुमार और यशोधरा के लिए तीन ऋतुओं के अनुकूल तीन सुखप्रासाद बनवा दिये तथा उन्हें सब प्रकार के भोग-विलास के साधनों से परिपूर्ण कर दिया। संसार का दुःखमय रूप उनके सामने न आ पाये इसलिए इस स्नेहान्ध पिता ने सब तरह की सावधानियाँ बरतीं। परन्तु अन्ततोगत्वा सब व्यर्थ ही सिद्ध हुआ।

आख्यायिका है कि समय समय पर परिभ्रमण के लिए निकलकर कुमार ने जरा, व्याधि एवं मृत्यु के दृश्य देखे और तब से उसका वैराग्यानल और भी तीव्रता से धधकने लगा। उसने अनुभव किया कि संसार अत्यन्त दुःखमय है। सभी जीव मानो अशान्ति और दुःख की ज्वाला से सतत जल रहे हैं। वह व्याकुल होकर उसके पार जाने का उपाय सोचने लगा।

फिर एक बार एक काषायवस्त्रधारी संन्यासी की शान्त-प्रसन्न मुद्रा देख सिद्धार्थ के मन में आया कि यही शान्ति का मार्ग है। उसे मानो मार्ग का सन्धान मिल गया। उसने निश्चय किया कि आज ही गृहत्याग कर आत्यन्तिक सुख का मार्ग ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न करूँगा।

इस समय सिद्धार्थ की आयु २९ वर्ष की हो चुकी थी।

प्रासाद में लौटकर सिद्धार्थ ने सुना कि यशोधरा ने पुत्र प्रसव किया है। समाचार सुनते ही उन्होंने कहा, "यह राहु हुआ—बन्धन हुआ।" शुद्धोधन यह सुनकर अत्यन्त आनन्दित हो गये और बोले कि शिशु का नाम 'राहुल' (शृंखला) रखा जाय; सचमुच ही इस बन्धन के कारण सिद्धार्थ का मन संसार की ओर आकर्षित होगा।

पर हुआ ठीक इसके विपरीत ही।

मध्यरात्रि में सिद्धार्थ उठे और अपने मंचक पर पद्मासन लगाये जन्म, जरा, व्याधि, मरण से कवलित मानव-जीवन पर गम्भीर विचार करने लगे। पुत्र-जन्म के आनन्द में जो उत्सव हुआ था, उसमें नृत्य-गीतादि कर नृत्यांगनाएँ पास ही निद्राभिभूत हो अस्त-व्यस्त पड़ी सो रही थीं। निद्रामग्न अवस्था में उनका घृणास्पद रूप देख सिद्धार्थ ने कहा, "रूप-सौन्दर्य कितनी नश्वर और भुलावे में डालनेवाली वस्तु है। अभी जो रंगभूमि थी, वही इस समय मानो श्मशान बन गयी है। मुझे ऐसा क्षणभंगुर आनन्द नहीं चाहिए। मैं शाश्वत सुख का मार्ग ढूँढ़ निकालूँगा, जिससे केवल मुझे ही नहीं, समस्त मानवजाति को कल्याण प्राप्त होगा।"

सिद्धार्थ उठकर यशोधरा के महल में आये। यशोधरा राहुल को छाती से लगाये सुख की नींद सो रही थी। वह हृदयस्पर्शी दृश्य देख सिद्धार्थ का मन क्षण भर के लिए विचलित हुआ, पर साथ ही साथ उनके मन में विचार आया कि यदि मैं इस समय कोमलता

दिखाऊँ, तो यह सन्धि फिर कभी न आएगी। उन्होंने मन ही मन कहा, "यशोधरे, तुम्हें न बताते हुए मैं तुम्हें छोड़ प्रव्रज्या लेने जा रहा हूँ। इससे तुम यह न समझना कि मेरा तुम पर प्रेम नहीं है। मेरा मन तो अब पहले से अधिक मृदु हो गया है। सभी प्राणियों के दुःख से मेरा मन दुःखी हो रहा है। मं यथार्थ प्रेम करना सीखने जा रहा हूँ।..."

फिर बाहर आकर उन्होंने छन्न नामक सारथि को जगाया तथा अपने प्रिय घोड़े कंथक को निकलवा उस पर सवार हो चल पड़े। छन्न घोड़े की पूँछ पकड़े पीछे पीछे चलने लगा। रात भर चलने के बाद सूर्योदय के समय वे राज्य की सीमा पर स्थित ओनामा नदी के उस पार पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपने सुन्दर केशों को काट डाला और अपने बहुमूल्य वस्त्र-अलंकारादि छन्न को देते हुए उसे घोड़े के साथ वापस भेज दिया तथा काषाय वस्त्र धारण कर स्वयं राजगृह की ओर चल पड़े।

यह प्रसंग बौद्ध साहित्य में 'महाभिनिष्क्रमण' के नाम से प्रसिद्ध है।

सिद्धार्थ भिक्षाचर्या करते हुए राजगृह के समीप आये। यहाँ आलार कालाम नामक विख्यात ऋषि के आश्रम में रह उनके उपदेशानुसार साधना करते हुए उन्होंने समाधि की सात सीढ़ियों का ज्ञान प्राप्त किया और अल्प समय में सर्वोच्च 'आकिंचन्य समाधि' में सिद्ध हुए। पर यह जानकर कि इसके द्वारा निर्वाण नहीं मिल सकता है, उन्होंने आलार कालाम से विदा ली।

फिर सिद्धार्थ उद्दक रामपुत्त नामक प्रख्यात तपस्वी

ऋषि के आश्रम में आये और उनके उपदेशानुसार साधना करते हुए वे पूर्व की समाधि से भी उच्च समाधि—'नैव संज्ञानासंज्ञायतन समाधि'—में सिद्ध हुए। परन्तु उन्होंने देखा कि इससे भी तृष्णा का समूल उच्छेदन—निर्वाण—नहीं हो सकता। अतः वे वहाँ से भी चल पड़े।

चलते चलते सिद्धार्थ गया के निकट उरुवेला आये और नैरंजरा नदी के तट पर मनोरम वनस्थली में तपस्यानुकूल स्थान देख उन्होंने तपस्या आरम्भ की।

उन्होंने अत्यन्त कठोर योगाभ्यास आरम्भ किया। श्वासोच्छ्वास बन्द कर वे घण्टों मृतवत् ध्यानस्थ बैठे रहते। आहार की मात्रा कम करते करते वे पूर्ण अनशन पर आ गये। उनके कठोर तप से मुग्ध हो कौण्डिन्य, वप्र, भद्रिय, महानाम और अश्वजित् नामक पाँच ब्राह्मण तपस्वी उनकी बड़ी श्रद्धापूर्वक सेवा करने लगे। इस प्रकार छः वर्ष की घोर तपश्चर्या और देहदण्डन के फलस्वरूप उनका रक्त-मांस सूखकर देह में केवल अस्थि-चर्म ही रह गया। शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया और उसमें असह्य पीड़ा होने लगी। परन्तु इस आत्यन्तिक आत्म-निर्यातन के मार्ग पर चलकर भी उन्हें परम शान्ति का सन्धान नहीं मिला।

तब उनके मन में विचार आया कि बचपन में जम्बु वृक्ष के नीचे मुझे जिस प्रकार समाधिसुख का अनुभव हुआ था, वैसा आज क्यों नहीं हो रहा है? उस समय तो मैंने देहदण्डन बिलकुल नहीं किया था। अवश्य ही यह सत्यप्राप्ति का सही मार्ग नहीं है।

अब उन्होंने मध्यम पन्था का अवलम्बन करने का

निश्चय किया अर्थात् परिमित मात्रा में आहार आदि करते हुए ध्यानमार्ग से समाधि प्राप्त करने का संकल्प किया। बड़ी कठिनाई से किसी प्रकार थोड़ा चलते हुए उन्होंने भिक्षाचर्या आरम्भ की। धीरे धीरे उनके शरीर में बल आने लगा।

यह देख उनके पाँच तपस्वी साथियों ने सोचा कि सिद्धार्थ समाधिभीरु है, तप की कठिनाइयों से घबड़ाकर वह मार्गभ्रष्ट हो गया है। फल यह हुआ कि वे उन्हें छोड़ उनकी निन्दा करते हुए काशी की ओर चले गये।

परिमित भोजनादि से धीरे-धीरे सिद्धार्थ का स्वास्थ्य सुधर गया और कान्ति पुनः तेजस्वी दीखने लगी। वे प्रसन्नतापूर्वक तपस्या करते हुए समाधिसुख का अनुभव करने लगे।

होते होते वैशाखी पूर्णिमा का दिन आया। उस दिन सुजाता नामक एक स्त्री ने बोधिवृक्ष के नीचे इन तेजस्वी संन्यासी को देख वनदेवता समझ लिया और उन्हें खीर निवेदित की। वह खीर ग्रहण कर सिद्धार्थ घूमते हुए एक दूसरे बोधिवृक्ष के नीचे आये और सोत्थिय नामक एक घसियारे से प्राप्त घास के आठ पूलों को वृक्ष के नीचे बिछाकर उन्होंने आसन तैयार किया। सन्ध्या समय उस आसन पर बैठ उन्होंने दृढ़ संकल्प किया——

इहासने शुष्यतु मे शरीरं
त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां
नैवासनात् कायमतश्चलिष्यते॥

—"इस शासन पर बैठे बैठे चाहे मेरी देह सूख जाए, खाल, मांस और हड्डियाँ नष्ट हो जाएँ, पर बहुकल्प के दुष्प्राप्य बोधिज्ञान को प्राप्त किये बिना मैं यहाँ से तनिक भी नहीं डिगूँगा।"

इस प्रकार दृढ़ संकल्पपूर्वक समाधि लगाते ही सिद्धार्थ का मन द्रुत गति से ध्यान के उत्तरोत्तर गम्भीर स्तरों को भेदता हुआ परम बोधि—सम्यक् सम्बोधि—के अति निकट पहुँच गया। छः वर्ष जिसके लिए घोर तपाचरण किया, वह बहुप्रतीक्षित सत्य-साक्षात्कार का क्षण अत्यन्त समीप आ गया। इस समय उनके चित्त में समाधि के अन्तिम अन्तराय या विघ्नस्वरूप कुछ विक्षेप या विपरीत मनोभाव आ उपस्थित हुए और उन्हें विचलित करने का प्रयत्न करने लगे। परन्तु तीव्र वैराग्य, विवेक और सत्यानुराग की दृढ़ भूमि पर अवस्थित सिद्धार्थ के मन ने इन पर सर्वतोभावेन विजय पा ली।

त्रिपिटक आदि बौद्धग्रन्थों में इस कामरूपी विघ्न को 'मार' कहा है और मार के साथ सिद्धार्थ के संग्राम का बड़ा रोचक और मनोज्ञ वर्णन किया है। सिद्धार्थ उसके प्रभाव से मुक्त हो कहीं बुद्ध न बन जाएँ इसलिए मार ने उन्हें विरत करने का भरसक प्रयत्न किया। आँधी, पानी, पत्थरों, हथियारों, धधकती राख, बालू और कीचड़ की घनघोर वर्षा करते हुए उन्हें डराना चाहा। फिर तृष्णा, प्रीति और रति नामक अपनी तीन कन्याओं एवं विभ्रम, हर्ष और दर्प नामक तीन पुत्रों को भेजा। तत्पश्चात् अपनी पूरी सेना के साथ उन पर टूट पड़ा। पर व्यर्थ! सिद्धार्थ के अपूर्व तपोबल और तेज

के सामने अन्त में मार पराभूत हो गया।

इस प्रकार महामाया की अन्तिम परीक्षा में गौरव-पूर्वक उत्तीर्ण होकर सिद्धार्थ चरम समाधि के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हुए।

रात्रि के प्रथम याम में उन्हें 'जातिस्मरत्वज्ञान' या 'पूर्वानुस्मृतिज्ञान' का दर्शन प्राप्त हुआ। उन्हें अपने शतसहस्र पूर्वजन्मों की बातें स्मरण हो आयीं।

द्वितीय याम में उन्हें दिव्यचक्षु प्राप्त हुए और इस अपार्थिव विशुद्ध दृष्टि से उन्हें उच्च-नीच, सुगत-दुर्गत सभी प्राणी संसार के प्रबल कर्मबन्धन में जकड़े दिखायी पड़े। इसे 'दिव्यचक्षुज्ञान-दर्शन' कहते हैं।

रात्रि के तृतीय याम में उन्हें 'आश्रवज्ञानदर्शन' नामक दर्शन प्राप्त हुआ। उन्होंने दु:ख, दु:खसमुदय, दु:खनिरोध और दु:खनिरोधगामिनी प्रतिपद् नामक चार आर्यसत्यों का साक्षात्कार किया और उन्हें समस्त संसार कार्य-कारण के सूत्र में बद्ध और ओतप्रोत दिखायी देने लगा। दु:खनिदान की इस क्रमिक शृंखला को बौद्ध दर्शन में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहा है।

इस प्रकार रात्रि का अन्तिम प्रहर व्यतीत हो उषा का आगमन हुआ। पूर्व गगन में भगवान् भुवनभास्कर उदित होने लगे, तब सिद्धार्थ के अन्त:करण में सम्यक् सम्बोधि का उदय हुआ—उन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ। याथातथ्यदर्शन प्राप्त कर वे बुद्ध बन गये—तथागत बन गये। उनकी सत्याकांक्षा सफल हुई। वे धन्य हो गये—कृतकृत्य हो गये।

(अगले अंक में समाप्य)

○